शिक्षा ग्रन्थों में संगीत तत्व

BUNDELKHAND UNIVERSITY
CENTRAL LIBRARY
Acc No. E1466
Date ....
JHANSI

-: **शिक्षा ग्रन्थों में संगीत-तत्त्व** :-

' शोध-प्रबन्ध - पीएच०डी० की उपाधि हेतु '

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय में प्रस्तुत सन् १९८६-८

शोधकर्त्री - ... छायारानी त्रिपाठी.

शोधपर्यवेक्षक - ...

डा०गजानन शास्त्री मुसलगांवकर,
यू०एस०जी०
विजिटिंग प्रोफेसर

पुस्तकालय
8740
झांसी

= 0 =
= 0 =

- प्राक्कथन -

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मेरी संस्कृत और संगीत में गहरी रुचि का परिचायक तो है ही, साथ ही गुरुजनों के आशीर्वाद एवं स्वजनों के सहयोग का प्रतिफल है । अध्यापन कार्य तथा आकाशवाणी से - समय-समय पर मेरे संगीत प्रसारणों ने मुझे इस शोध के लिये प्रेरित किया है और अपनी इस प्रेरणा की अभिव्यक्ति रूप इस कार्य को प्रस्तुत कर सन्तोष मिश्रित हर्षानुभूति स्वाभाविक है , किन्तु वास्तविक सन्तोष व प्रसन्नता तो तब ही सम्भव है , जब कि विद्वत्-जन इसे सराहें ।

इस कार्य की मौलिकता इसी में है कि, शिक्षा ग्रन्थों को संगीत की दृष्टि से इसके पूर्व किसी भी लेखक ने समग्र रूप से अपनी - लेखनी का विषय नहीं बनाया । यत्र-तत्र जो सामग्री इस सम्बन्ध में उपलब्ध हैं, वह न केवल भ्रान्तिपूर्ण, अपितु नितान्त अपर्याप्त हैं ।

काल तथा स्थान की मर्यादा ने इस शोध प्रबन्ध लेखन में अति संक्षिप्तता अपनाने को बाध्य किया । फिर भी यथा स्थान आवश्यकतानुसार किंचित् विस्तार का प्रयास भी किया गया है । व्याख्यात्मक तथा तुलनात्मक निरूपण करते समय विषयों के महत्त्व को ध्यान में रक्खा है और जो बिन्दु अन्यान्य ग्रन्थों में विस्तार से वर्णित तथा व्याख्यातित हो चुके हैं, उन्हें प्राय: उपेक्षा ही प्रदान की गयी है।

अनेक स्थलों पर एक ही विषय की पुनरुक्ति की गयी है, जिसका कारण उन प्रसंगों में तद्विषयक भिन्न दृष्टिकोणों का होना है । साथ ही प्रसंग परिवर्तन के कारण भी ऐसा हुआ है ।

- प्राक्कथन -

यह शोध दो पृथक् अनुशासनों अर्थात् संस्कृत व संगीत से सम्बद्ध होने के कारण कुछ टेक्नीकल हो गया है, किन्तु यथा सम्भव सरल तथा प्रचलित शब्दों का प्रयोग कर इसे सामान्य बुद्धि ग्राह्य बनाने का प्रयास किया गया है। संगीत सम्बन्धी शब्दों को पारिभाषिक दृष्टि से ग्रहण करते हुये, तत्सम्बन्धी प्रश्नों का विवेचन यथा शक्ति किया है, फिर भी कहीं-कहीं भाषा में दुरुहता एवं प्रवाहावरोध हुआ है, जिसका कारण विषय की विशिष्टता एवं प्रचलित शब्दों का अभाव है।

शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करने की समयसीमा के कारण इस ग्रन्थ का सूक्ष्मता के साथ पुनरावलोकन मेरे लिये सम्भव नहीं हो सका है, लेकिन यथाशक्ति मैंने अपने कर्तव्य का पालन करते हुये, इस कार्य की पूर्णता में पूरी सावधानी बरती है।

संगीत सम्बन्धी स्वरांकन में भातखण्डे स्वरलिपि के चिन्हों का अथवा वैदिक स्वर चिन्हों का आवश्यकतानुसार प्रयोग किया गया है, तथा उपलब्ध प्रमाणों का अधिक से अधिक सन्दर्भ सहित प्रयोग किया गया है। महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों को सुप्रतिष्ठित आधारों द्वारा ही निर्गमित किया है, और जहां कोई निश्चित् आधार नहीं प्राप्त हो सका वहां कोई अपना निर्णय लादने के बजाय समस्याओं को खुला ही छोड़ दिया गया है कारण कि शोध-कार्य का प्रयोजन प्रश्नों का उत्तर अविवेकतापूर्ण तरीके से देने की बजाय समस्याओं की गहनता और उनके महत्त्व को उजागर करना है। एक शोधार्थी के लिये जिस निष्पक्षता एवं सजगता की आवश्यकता होती है उसको ध्यान में रखते हुये, इस शोध-कार्य में पूर्णरूपेण पूर्वाग्रहों

- प्राक्कथन -

से मुक्त होकर मैने अपने कर्तव्य का न केवल निर्वाह किया है, अपितु इस बात का भी प्रयास किया है कि प्रस्तुत कार्य से , इस दिशा में आगे आने वाले शोधार्थियों को पर्याप्त आधार एवं उचित दिशा संकेत मिल सके । इस शोधपूर्ण लेखन कार्य से, कोई तद्विषयक क्रान्तिकारी परिवर्तन की आशा करना तो अत्युक्तिपूर्ण बात होगी , किन्तु इसकी अभूतपूर्वता और नवीन चिन्तन-प्रक्रिया निश्चित ही भविष्य में दूसरों के लिये प्रेरणा की स्त्रोत बनेगी , ऐसी मुझे आशा है ।

यह शोध प्रबन्ध निम्नलिखित अध्यायों में प्रस्तुत किया गया है, जो विषय सामग्री को सुविधानुसार वर्गीकृत करने के उद्देश्य से हैं और ऐसा करते समय परस्पर सम्बद्ध बिन्दुओं को यथेष्ट क्रम प्रदान करने की चेष्टा की गयी है ।

भूमिका के अन्तर्गत शिक्षाओं से सम्बद्ध आवश्यक जानकारी यथा उनका अर्थ, प्रयोजन, अंग इत्यादि की संक्षिप्त चर्चा है तथा संगीत से सम्बन्धित प्रमुख बातें भी बिना विस्तार के बतायी गयी हैं, एवं शिक्षाओं में निहित संगीततत्त्व के अभिप्राय का संकेत भी किया गया है ।

नादाध्याय में नाद अर्थात् ध्वनि (जो संगीत का आधार है) की विभिन्न दृष्टियों से व्याख्या की गयी है यथा नादोत्पत्ति के विषय में शिक्षाकारों के मत के साथ-साथ विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों का भी मूल्यांकन किया गया है। नाद के तीन प्रचलित रूप ' हकार ' - इत्यादि का तात्त्विक विवेचन किया गया है तथा वर्ण आदि के उत्पत्ति क्रम को समझाते हुये संगीत की दृष्टि से उनकी प्रासांगिकता बताने का

- प्राक्कथन -

प्रयास किया गया है एवं नाद के स्थानों को संगीत के सप्तकों के साथ तुलनात्मक रीति से सामंजस्य स्थापन का प्रयत्न भी किया गया है ।

श्रुत्यध्याय के अन्तर्गत 'श्रुति' शब्द के महत्त्व को तो बताया ही है, किन्तु मुख्य रूप से इस अध्याय के अन्तर्गत श्रुतियों का स्वर के साथ सम्बन्ध, तत्सम्बन्धी दार्शनिक मत, सप्तक निर्माण में श्रुतियों का क्रम और योग, एवं श्रुतियों की जाति, 'साधारण' तथा श्रुति-संख्या इत्यादि अनेक बिन्दुओं पर तार्किक रीति से विचार किया गया है । इसी अध्याय में प्रसंगानुसार ग्राम मूर्च्छना, तान, ग्राम-राग इत्यादि का विवेचन भी - किया गया है । वस्तुत: इस अध्याय के अन्तर्गत निहित विचारों को प्रकाश में लाने का यह अपूर्व प्रयास है, जो, संस्कृत और संगीत दोनों विषयों के विद्यार्थियों को लाभकर सिद्ध हो सकेगा । क्योंकि शिक्षा में अति संक्षिप्त रूप में वर्णित इन बहुमूल्य संगीत सम्बन्धी बिन्दुओं को समझने का प्रयास अभी तक नहीं किया गया था ।

स्वराध्याय, जो आकार की दृष्टि से सबसे बड़ा है, संगीत और भाषा के स्वरों की तात्त्विक एकता को दर्शाने का प्रयास है, अन्य बातों के अतिरिक्त इसके अन्तर्गत सांगीतिक स्वरों की विशेषतायें यथा-तारता, तीव्रता इत्यादि को उदात्त अनुदात्तादि वैदिक-स्वर-विशेषताओं के साथ जोड़ने का, एवं उनमें सन्तुलन बैठाने का प्रयास इसमें किया गया है। यद्यपि निश्चित रूप से कोई समाधान भले ही इस विषय में प्राप्त नहीं हुआ किन्तु विभिन्न दृष्टियों से जो विवेचन और विश्लेषण, प्रस्तुत किया गया है, वह इस विषय में नितान्त मौलिक चिन्तन का परिचायक है ।

- प्राक्कथन -

सम्भावित समाधान के रूप में मैंने अपना मत दिया है , जो यदि सर्वमान्य नहीं तो अधिकांश विद्वत् जनों द्वारा अवश्य मान्य होगा । स्वराध्याय में ही उनके विभिन्न रूपों, नामकरण, कुल, देवता, रंग इत्यादि की भी चर्चा शिक्षादि ग्रन्थों के आधार पर की गयी है, एवं अन्य सभी स्वर सम्बन्धी बातों को भी उनके महत्त्व के अनुपात में इस अध्याय के अन्तर्गत समाहित किया गया है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जो बिन्दु अन्य अध्यायों में वर्णित हुये हैं उन्हें यथा सम्भव पुनरुक्ति के भय से छोड़ दिया गया है ।

तालाध्याय के अन्तर्गत ताल विषयक चर्चा हुयी है, जिसमें ताल की व्युत्पत्ति महत्त्व ताल के अंग तथा वृत्ति, लय, विवृत्ति, यति आदि पर समुचित प्रकाश डाला गया है। इस अध्याय में मुख्य रूप से ध्यान का केन्द्र ताल और छन्द की साम्यता एवं संगीत और साहित्य की दृष्टि से क्रमश: उनकी प्रासंगिकता का मूल्यांकन करना प रहा है । कालांश - अर्थात् मात्रा के निर्धारण हेतु आत्मगत तथा वस्तुगत मापकों को समझाते हुये, तत्सम्बन्धी दोषों एवं कठिनाइयों का निर्देश भी संगीत की दृष्टि से किया है, जो संगीत प्रयोगार्थियों के साथ ही साथ पाठ्यकर्ताओं को भी सहायता प्रदान कर सकता है ।

पदाध्याय के अन्तर्गत पद की व्याख्या तो है ही , किन्तु मुख्य विचारणीय बिन्दु जो है, उनमें पदोच्चारण सम्बन्धी गुण-दोष, संगीत में गीत के अन्तर्गत पद का समावेश तथा गीत के गुण-दोष, गान्धर्व में पद का ग्रहण, सार्थक तथा निरर्थक पदों की संगीत को दृष्टि से - उपयोगिता आदि ।

प्राक्कथन

इसी अध्याय में संगीत शिक्षा सम्बन्धी निर्देशों , जो शिक्षाओं में वर्णित हैं, पर भी विचार किया गया है तथा शिक्षार्थियों की दृष्टि से उनकी प्रासंगिकता निरूपित की गयी है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य - आवश्यक बातें भी इसी अध्याय में समायोजित करने का प्रयास किया है क्योंकि वे आवश्यक होते हुये भी अन्यत्र वर्णित नहीं की जा सकीं ।

अन्त में संक्षिप्त निष्कर्ष देने का प्रयास किया गया है , जिसमें सभी अध्यायों में वर्णित मुख्य बिन्दुओं का सार रूप निष्कर्ष प्रस्तुत किया है। विशेषकर जो शिक्षाओं में वर्णित होने के साथ ही साथ वर्तमान संगीत में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में प्रचलित हैं । क्योंकि जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य शिक्षा ग्रन्थों में उपलब्ध सांगीतिक तत्त्वों को प्रकाश में लाकर उनका प्रचलित संगीत से सामंजस्य स्थापन करना एवं उनके महत्त्व को पुनर्प्रतिष्ठित करना है, जो कालान्तर में कतिपय कारणों से उपेक्षित तथा विस्मृत हो गये थे । अन्त में उद्धृत पुस्तकों की सूची एवं शोध-प्रबन्ध में प्रयुक्त संकेतों का विस्तार भी दिया गया है,किन्तु कुछ आवश्यक सन्दर्भ व्याख्याओं को अन्त में दिया गया है । ताकि आवश्यकता होने पर उसे देखा जा सके ।

यह लघु प्रयास इस शोध-प्रबन्ध के रूप में विद्वत् जनों के सम्मुख प्रस्तुत है तथा यह आशा है कि शीघ्र ही यह कार्य , पुस्तक का रूप ग्रहण कर सकेगा। किन्तु इस अत्यन्त विलक्षण कार्य की सफलता अथवा निष्फलता का निकष गुणी जनों का ही परितोष है ।

" आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् "

-: o :-

- प्राक्कथन -

सम्प्रति प्राय: सभी शोध-प्रबन्ध में धन्यवाद प्रकाशन की प्रथा सी बन गयी है किन्तु मैं इसे अपना नैतिक एवं आवश्यक कर्त्तव्य मानती हूँ क्योंकि छोटे से छोटे कार्य में भी दूसरों का सहयोग किसी न किसी रूप में अपेक्षित रहता ही है, फिर शोध जैसे बृहद् एवं गहन कार्य में तो दूसरों का सहयोग नितान्त अपरिहार्य है। अत: मैं हृदय से उन सभी के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मेरा यह शोध कार्य पूरा करने में अपना सहयोग एवं सहायता प्रदान की ।

सर्वप्रथम मैं अपने शोधकार्य-पर्यवेक्षक डा०गजानन शास्त्रीजी की आभारी हूँ जिन्होंने न केवल प्रस्तुत कार्य के लिये सदा प्रेरित किया बल्कि अपने बहुमूल्य मार्गदर्शन द्वारा मेरा पथ प्रशस्त किया।

इस अवसर पर मैं अपनी गुरु डा०प्रेमलता शर्मा, जो सम्प्रति इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ की कुलपति हैं, का उल्लेख किये बिना नहीं रह सकती, जिन्होंने समय-समय पर अपने अथाह ज्ञान-भण्डार के द्वारा मेरी समस्याओं और जिज्ञासाओं को शान्त किया साथ ही हर स्तर पर मुझे मार्गदर्शन दे कर मेरा साहस एवं धैर्य बनाये रखा । मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि उनके सहयोग एवं आशीर्वाद के बिना यह कार्य पूरा होना सम्भव नहीं था, अत: पूरी विनम्रता तथा श्रद्धा के साथ मैं उनकी आभारी एवम् ऋणी हूँ ।

डा० विमला मुसलगांवकरजी की भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ , जिन्होंने समय समय पर अपने बहुमूल्य सुझावों एवं सहायता के द्वारा इस कार्य की पूर्णता में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया ।

- प्राक्कथन -

मैं डा० कमलेश दत्तजी त्रिपाठी, निर्देशक कालिदास संस्कृत अकादमी उज्जैन, के प्रति भी हार्दिक आभार प्रकट करती हूं, जिन्होंने अपने वाराणसी कार्य-काल में मुझे इस शोध के लिये अनेक बार आवश्यक सहायता एवं परामर्श सहर्ष प्रदान किया तथा मेरी संस्कृत सम्बन्धी कठिनाइयों को भी दूर किया ।

मैं कृतज्ञ हूं डा० केदारनाथ मिश्रजी की जिन्होंने दर्शनशास्त्र सम्बन्धी अनेक प्रसंगों में मेरा मार्गदर्शन किया तथा अनेक दुर्लभ ग्रन्थ भी उपलब्ध कराये ।

मद्रास विश्वविद्यालय के डा० एन० रामनाथन को भी मैं धन्यवाद देती हूं जिन्होंने संगीत विषयक विशेषकर कर्नाटक संगीत - विषयक जानकारी एवं ज्ञान मुझे प्रदान किया और मेरे संगीत सम्बन्धी दृष्टिकोण को व्यापक बनाने में मदद की ।

मैं उन सभी महानुभावों के प्रति अपना आभार प्रगट करती हूं जिनके ग्रन्थ इत्यादि पढ़कर मेरा कार्य सरल हुआ और जिनके ग्रन्थों का मैंने अपने इस प्रबन्ध में आवश्यकतानुसार उपयोग किया । मैं उनकी भी आभारी हूं, जिन्होंने मेरे इस कार्य में अड़चनें एवं बाधायें उत्पन्न कीं, जिस कारण मेरे उत्साह में वृद्धि हुयी एवं निर्धारित समय-सीमा से कुछ घन्टे पूर्व ही मैं इसे विश्वविद्यालय में प्रस्तुत कर सकी ।

अन्त में मैं उन सभी के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूं जिन्होंने अपनी-अपनी विभिन्न क्षमताओं में यथाशक्ति इस कार्य

- प्राक्कथन -

को शीघ्र पूर्ण करने में अपना सहयोग दिया एवं अपनी सुख-सुविधाओं को भी त्यागकर मेरे इस शोधकार्य को समय पर सम्पन्न कराया । ऐसे लोगों की सूची लम्बी है अत: उनका नामोल्लेख नहीं किया जा रहा है परन्तु मेरे मन में इन सभी के प्रति जो आदर एवं श्रद्धा है वह शब्दातीत है ।

- o -

- विषय-सूची -

- ० -

- भूमिका -

भारतीय संस्कृति में वेदों का महत्त्वपूर्ण स्थान निर्विवाद है। ईश्वर इत्यादि का खण्डन आस्तिक भारतीयों को उतना कष्टकर नहीं है जितना कि वेदों का। यही कारण है कि सांख्य, वैशेषिक तथा पूर्व-मीमांसा जैसी प्रचलित दार्शनिक विचारधारायें निरीश्वरवादी तो मानी जा सकती हैं किन्तु अवैदिक नहीं। आचार्य उपाध्याय ने इसी वैदिक भारतीयता का प्रतिनिधित्व करते हुये कहा है - " हम ईश्वर विरोध तो सह कर सकते हैं, परन्तु वेद से आंशिक विरोध भी हमारी दृष्टि से नितान्त वर्जनीय है"[1]

वेदों के प्रमुख छह अंगों में शिक्षाओं का सर्वाधिक महत्त्व है। क्योंकि शिक्षाओं पर ही वेदों की गम्यता अवलम्बित है और इन शिक्षा-ग्रन्थों में निहित संगीत तत्त्वों का खोजपूर्ण रीति से निरूपण करना ही प्रस्तुत शोध का प्रमुख लक्ष्य है। अतः शिक्षाओं में प्रतिपादित सांगीतिक तत्त्वों की चर्चा के प्रसंग में शिक्षा का अर्थ आदि समझ लेना समीचीन होगा।

शिक्षा का अर्थ -

शिक्षा का सामान्य तथा विशिष्ट दो प्रकार का अर्थ किया जाता है। सामान्य अर्थ में शिक्षा से अभिप्राय किसी विद्या को सीखने या सिखाने की क्रिया से है।[2] किन्तु वैदिक वाङ्मय में शिक्षा का विशिष्ट अर्थ परिलक्षित होता है। जहाँ शिक्षा से तात्पर्य उस विशिष्ट विद्या से है, जिसके द्वारा वर्णोच्चारणादि (पाठ्य, गायन) विधि सम्बन्धी समस्त नियमों का प्रतिपादन किया जाता है। इसी मत की पुष्टि करते हुये सायण का कथन है कि -

---

१- वै०सा०सं० पृ०३
२- सं०श०को० पृ० ११५२

- भूमिका -

" स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा " १

विष्णु मित्र ने भी स्वर वर्ण के उच्चारण का उपदेश देने वाले शास्त्र को शिक्षा कहा है ।

" शिक्षा स्वरवर्णोच्चारणोपदेशकं शास्त्रम् "२

अत: शिक्षा से अभिप्राय उस शास्त्र से है, जिसके द्वारा ध्वनि सम्बन्धी सम्पूर्ण नियमों का निर्देश किया गया है । वर्ण, स्वर, पद, आदि मूलत: ध्वनियाँ ही हैं और इनकी ही उचित उच्चारण विधि स्थान, मात्रा, तारता आदि का निर्देश करने के कारण शिक्षाओं को वेदों का ध्वनिविज्ञान कहा जा सकता है । इसी विशिष्ट अर्थ में शिक्षा का प्रयोग वैदिक काल से होता चला आया है और आज भी इसकी तत्सम्बन्धी आवश्यकता को स्वीकार किया जाता है ।

शिक्षाओं की प्राचीनता तथा काल निर्धारण -

वेदों के अपौरुषेय तथा अनादि होने के कारण उसकी अंगभूता शिक्षादि की भी प्राचीनता सुनिश्चित ही है ।[3] शिक्षाओं का उपलब्ध रूप जो वर्तमान है, कब से प्रचलित हुआ कहना कठिन है । उपलब्ध शिक्षा ग्रन्थों से पूर्ववर्ती साहित्य में अनेक स्थलों पर शिक्षा की चर्चा हुयी है । गोपथ ब्राह्मण में -

" ओंकारं पृच्छाम: किं स्थानानुप्रदानकरणं शिक्षका: किमुच्चारयन्ति ।[4] षडंगविदस्तथा धीमहे " ।[5]

१- ऋग्वेद भाष्य भूमिका पृ० ४६
२- " विष्णुमित्रकृता वर्गद्वयवृत्ति: " (ऋ०प्रा० पृ०२४)
३- "Oldest literary composition in the world." Sex and Sexuor ship P. 8
४- गोपथ ब्राह्मण १।२४
५- वही १।२७

- भूमिका -

पहले उदाहरण में शिक्षाविदों के लिये 'शिक्षक' शब्द का व्यवहार किया गया है । द्वितीय में षडंगों का निर्देश है । निरुक्त में भी यास्क ने वेदांगों को, " वेदांगानि " ।[१] कहकर परिचय दिया है । तैत्तिरीय उपनिषद् में शिक्षाध्याय नाम क एक अध्याय ही है ।[२] मुण्डकोपनिषद् में भी शिक्षा की चर्चा आयी है ।[3] उपर्युक्त उदाहरणों से शिक्षाओं की प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध होती है । वेदों का छह अंगों सहित पाठ्य करने का विधान है । इससे भी स्पष्ट है कि वेदों की प्राचीनता के साथ ही - शिक्षादि की भी प्राचीनता जुड़ी है ।

वर्तमान में प्राप्य शिक्षा ग्रन्थों के रचयिता नारदादि के नाम मिलते हैं, किन्तु मूलत: ये लोग शिक्षाओं के रचयिता (मूललेखक) न होकर मात्र उनके प्रवक्ता जान पड़ते हैं । क्योंकि प्राचीन ग्रन्थों में शिक्षाओं का उल्लेख प्राप्त होने से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि, शिक्षायें अन्य वेदांगों की तरह प्राचीन काल से ही विद्यमान रही हैं । किन्तु कालान्तर में उन प्राचीन शिक्षाओं का लोप हो गया अथवा अप्रचलित हो जाने के कारण वे विस्मृति के गर्भ में समाधिस्थ हो गयीं और परवर्ती आचार्यों ने उनके मौलिक सिद्धान्तों को अपनी अपनी शैली में पुनर्स्थापित किया ।[४] पाणिनि आदि ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख किया है एवं उन आचार्यों द्वारा भी अपने पूर्ववर्तियों का उल्लेख किया गया है । अत: शिक्षाओं की एक लम्बी तथा प्राचीन परम्परा का होना सिद्ध होता है ।[५]

शिक्षाओं का उद्देश्य एवं वेदांगों में स्थान -

वेद मंत्रों का उचित ढंग से उच्चारण हो सके इसके निमित्त

१- निरुक्त १।२०
२- तै०उ० १।२
३- मु०उ० १।१।५
४- द्र०पा०शि०शि०सं०स० पृ०६
५- वाक्यपदीय १।१४२

- भूमिका -

शिक्षा की आवश्यकता है । क्योंकि यह वेद के मंत्रों का ठीक ठीक - उच्चारण करने की विधि बताती है । वेद के छह अंगों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है । वेद रूपी शरीर में शिक्षादि अंगों का क्या स्थान है ? इसका स्पष्टीकरण पाणिनीय शिक्षा द्वारा किया गया है -

" छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ।।

शिक्षा घ्राणन्तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात्सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ।। " [1]

पाणिनि ने शिक्षा को वेदरूपी शरीर का घ्राण बताया है । जिसका अभिप्राय सम्भवतः यही प्रतीत होता है कि जिस प्रकार प्राणि शरीर में घ्राण (नासिका) सम्मान सूचक है । प्राण वायु का साधन होने से जीवन का प्रतीक है। उसी प्रकार शिक्षाओं को समझना चाहिये । वेदों का छह अंगों सहित अध्ययन करना आवश्यक माना ही गया है किन्तु इनके अंगों में शिक्षा का स्थान अध्ययन की दृष्टि से सर्वप्रथम है ।

" अस्माकं वैदिकपरम्परासु सर्वप्रथमं शिक्षाशास्त्रमेव बटवः
पाठ्यन्ते । [2]

वर्णों का ज्ञान उनके स्थान, प्रयत्न,मात्रा,स्वर,लय इत्यादि का कहाँ, कैसे, प्रयोग किया जाय ये सभी बातें शिक्षाओं में बतायी गयी हैं। शिक्षा-ज्ञान के अभाव में वेद मंत्रों का अर्थानुकूल भावानुकूल सही उच्चारण करना कठिन है ।

ये शिक्षा ग्रन्थ न केवल वेदों के ही उपकारक हैं अपितु यह

१- पा० शि० ४१-४२
२- पा० शि० शि० सं० स० पृ० ५

ध्वनिविज्ञान भी कहे जा सकते हैं। चूंकि वर्ण मूलत: ध्वनिरूप ही है। ध्वनियों का सूक्ष्म विश्लेषण उत्पत्ति से लेकर प्रयोग तक का विधान इन शिक्षाग्रन्थों में प्राप्य है। ध्वनि विज्ञान के ज्ञान के अभाव में भाषा का सम्यक् प्रयोग नहीं हो सकता। शिक्षा ग्रन्थ न केवल वैदिक मंत्रों से सम्बन्धित भाषा के नियम निर्धारित करते हैं, अपितु लौकिक भाषा को भी अधिकांशत: नियमित करते हैं। अत: भाषा विज्ञान के दृष्टिकोण से भी शिक्षा ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

शिक्षाओं की शाखायें तथा संख्या -

चारों वेदों की अलग अलग शिक्षायें हैं यथा - ऋग्वेदीया - पाणिनि शिक्षा यजुर्वेदीया याज्ञवल्क्य शिक्षा सामवेदीया नारदीया शिक्षा तथा अथर्ववेदीया माण्डुकी शिक्षा। इस शोध कार्य में इन्हीं चार शिक्षाओं को प्रतिनिधि रूप में ग्रहण करते हुये, उन्हीं के आधार पर प्रमुख रूप से निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया गया है। यद्यपि अन्य शिक्षाओं को भी यथा स्थान आवश्यकतानुसार उद्धृत किया गया है तथा उनका प्रस्तुत प्रयोजन की दृष्टि से अनुशीलन भी यथाशक्ति किया गया है। किन्तु मुख्य एवं प्रचलित होने के कारण उपर्युक्त चार शिक्षाओं पर ही अधिक जोर दिया गया है। और इन चार शिक्षाओं में भी नारदीया शिक्षा पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया गया है, क्योंकि संगीत की दृष्टि से यह शिक्षा अन्य शिक्षाओं की तुलना में अधिक प्रासंगिक एवं उपयोगी है।

वेदों के उच्चारणादि के आधार पर इनकी बहुत शाखायें हैं। इन शाखाओं के उच्चारणादि नियम भी भिन्न भिन्न हैं। अत: सभी

- भूमिका -

शिक्षा ग्रन्थों के नियमों में सम्वाद नहीं है । जैसा कि आगामी अध्यायों में यथास्थान दर्शाया गया है । लेकिन कुछ मूलभूत नियम न केवल शिक्षा ग्रन्थों में अपितु संगीतग्रन्थों में भी एक से ही प्राप्त होते हैं । वर्णन तथा व्याख्या की शैलियाँ भिन्न भिन्न होते हुये भी संगीत सम्बन्धी तत्वों का निरूपण जैसा शिक्षा ग्रन्थों में हुआ है , लगभग वैसा ही संगीत के प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है , जिससे इस तथ्य की पुष्टि होना स्वाभाविक है कि - शिक्षाओं से ही संगीत का क्रमिक विकासारम्भ हुआ होगा तथा शिक्षा - ग्रन्थों का इन परवर्ती संगीत ग्रन्थों पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका होगा। उपर्युक्त कथन का यह अर्थ नहीं है कि शिक्षा तथा संगीत ग्रन्थों में प्राय: एक सा ही संगीत-तत्वों का निरूपण है । दोनों की परम्पराओं में अपना-अपना वैशिष्ट्य स्पष्ट परिलक्षित होता है , किन्तु अनेक तत्सम्बन्धी संज्ञायें गुण-दोषादि में ` नाम ` अथवा व्याख्या साम्य काल-मापक, मात्रायें आदि ऐसे अनेक बिन्दु हैं , जो हमारे उपर्युक्त कथन, को प्रामाणिक बनाते हैं, कि वैभिन्न्य के होते हुये भी शिक्षा तथा परवर्ती संगीत ग्रन्थों में एक मौलिक साम्य है ।

शिक्षाओं की निश्चित संख्या कितनी थी, यह कहना कठिन है। वेदों की कितनी शाखायें थीं, और उससे सम्बद्ध कितनी शिक्षायें थीं इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं प्राप्त नहीं होता। ३२ शाखाओं का समुच्चय ` शिक्षासंग्रह ` में उपलब्ध होता है ।[१] चारों वेदों की भिन्न भिन्न शाखाओं से सम्बद्ध शिक्षाओं का संग्रह इसमें किया गया है। यथा -

१- याज्ञवल्क्य शिक्षा २- वासिष्ठि शिक्षा ३- कात्यायनी शिक्षा

- -

१- वै०सा०सं० पृ०-२८७

४- पाराशरी शिक्षा ५- माण्डव्य शिक्षा ६- अमोघनन्दिनी शिक्षा
७- माध्यन्दिनि शिक्षा ८- वर्णरत्न प्रदीपिका शिक्षा ९ - केशवी शिक्षा
१०- मल्लशर्म शिक्षा ११- स्वरांकुश शिक्षा १२- षोडश-श्लोकी शिक्षा
१३- अवसान निर्णय शिक्षा १४-स्वरभक्ति लक्षण शिक्षा १५- प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा १६- नारदीया शिक्षा १७- गौतमी शिक्षा १८- लोमशी शिक्षा १९- माण्डूकी शिक्षा इत्यादि। इनके अतिरिक्त भी व्यास शिक्षा भारद्वाज शिक्षा क्रमसंधान शिक्षा, गलदृक् शिक्षा, मनःस्वार शिक्षा इत्यादि हैं।

उपर्युक्त शिक्षा ग्रन्थों के नामों से ही स्पष्ट है कि कुछ के नाम मनीषियों के नाम के आधार पर हैं, कुछ के विषय के दृष्टिकोण से, कुछ के शाखाओं के दृष्टिकोण से तथा कुछ के प्रातिशाख्य के आधार पर नाम रखे गये हैं।

शिक्षा के विषय -

'शिक्षा' को अपरा विद्या के अन्तर्गत गिनाया गया है।

' तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो ज्योतिषमिति।'[१]

शिक्षा के छह अंग हैं। इन षडंगों की चर्चा तैत्तिरीयोपनिषद् में की गयी है।

' शिक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः, मात्रा, बलम्, साम, सन्तानः इत्युक्तः शीक्षाध्यायः'[२]

१- मुण्डकोपनिषत् १।१।५
२- तैत्तिरीयोपनिषद् १।२

- भूमिका -

शिक्षा के इन वर्ण, मात्रा, बल, स्वर ,साम, सन्तान छह अंगों का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है , जो संगीत की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है ।

वर्ण -

वर्ण से तात्पर्य अक्षरों से है । वेदों को जानने के लिये स्वर-व्यंजन वर्णों का ज्ञान अपेक्षित है। वर्ण मूलत: ध्वनियाँ हैं । अत: इसकी उत्पत्ति ,उच्चारण, स्थान इत्यादि का विस्तृत विवेचन शिक्षाओं में उपलब्ध है । चूँकि संगीत में भी इनकी आवश्यकता गीत के अन्तर्गत अनुभूत होती है। अत: संगीत की दृष्टि से इन पर यथा स्थान विचार किया जायगा ।

स्वर -

स्वर से अभिप्राय उदात्तानुदात्त स्वरित इत्यादि से है।संगीत का आधार भी यही उदात्तादि निम्न उच्चतारता के स्वर ही हैं । अत: शिक्षाओं में संगीत के विकास की यात्रा सम्बन्धी प्रारम्भिक संकेत मिलते हैं।

मात्रा -

मात्रा का अभिप्राय कालमान से है, काव्य में छन्द और संगीत में ताल इसी काल मान का विवर्त कहा जा सकता है ।

बल -

शिक्षाओं में बल से अभिप्राय स्थान और प्रयत्न से है । वर्णों के उच्चारण के समय वायु जिन-जिन स्थानों से टकराता हुआ बाहर निकलता है , उन वर्णों के वे स्थान कहे जाते हैं । जिनकी संख्या आठ बतायी गयी है।

- भूमिका -

उच्चारण में किये जाने वाले प्रयास को प्रयत्न कहा गया है , जो आभ्यन्तर और बाह्य दो प्रकार के बताये गये हैं ।[१]

साम-

साम शब्द का अर्थ साम्य बताया जाता है ।[२] अर्थात् दोष रहित तथा माधुर्यादि गुणों से युक्त उच्चारण । आंग्ल भाषा में साम (Psalm) का अर्थ गीत (Song) से लगाया जाता है । अत: गीतादि में माधुर्य का विचार निहित होने से यह शब्द वहाँ भी समानार्थक प्रतीत होता है। उच्चारण सम्बन्धी जो गुण और दोष हैं उनका बड़े ही मनोवैज्ञानिक और तार्किक ढंग से , शिक्षा ग्रन्थों में वर्णन किया गया है ।

सन्तान:-

इस शब्द की व्युत्पत्ति सम उपसर्ग पूर्वक तन् धातु से हुयी है (सम् - तन् - घञ्) व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ प्रसार या फैलाव है ।[३] किन्तु उपाध्याय जी के अनुसार इसका अर्थ संहिता है ।[४] पदों की सन्निधि संहिता मानी गयी है। संगीत के अन्तर्गत पद ग्रहण तो गीत रूप में होता ही है और गीत को यदि पदों की सन्निधि के रूप में समझा जाय तो अनुचित नहीं है । कारण की गीत पद की दृष्टि से जितना व्यवस्थित होगा संगीत के स्वरों में उसका निर्वाह उतना ही आसान होगा , साथ ही उसकी प्रभावोत्पादकता में भी अभिवृद्धि होगी ।

१- ऋ०प्रा० १३।१ तथा ८
२- वै० वै०सा०स० पृ०-२७४
३- सं०श०कौ० पृ० १२१२
४- वै०सा०से० पृ०-२७५

- भूमिका -

शिक्षा और प्रातिशाख्य -

प्रातिशाख्यों में भी उदात्तादि स्वर, मात्रायें इत्यादि की चर्चा की गयी है । अतः इन्हें भी वेदांगों में सम्मिलित क्यों नहीं किया गया ? वेदों के शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, कल्प ज्योतिष, छन्द जितने उपकारक हैं उससे विशिष्ट रूप में ही प्रातिशाख्य वेदों के उपकारक हैं। अतः इन्हें भी निःसंकोच रूप से वेदांग कहा जा सकता है ।

वेदों की प्रातिशाखा से सम्बद्ध होने के कारण इन्हें प्रातिशाख्य कहा गया है। व्याकरणादि सामान्य विषयों का निर्देश करते हैं, जबकि प्रातिशाख्य वेदों की शाखा विशिष्ट के आधार पर विषयों की चर्चा करते हैं अतः शिक्षा व्याकरणादि की तुलना में प्रातिशाख्य वेदों के विशिष्ट उपकारक हैं । अतः प्रातिशाख्यों का भी वेदांगो में अन्तर्भाव करना न्यायसंगत है । किन्तु प्रश्न यह है कि किस वेदांग के अन्तर्गत इसे रक्खा जाय ? विषय निर्वाह के दृष्टिकोणसे , प्रातिशाख्य शिक्षाओं में वर्णित सभी विषयों का सम्यक् तथा निर्वाह करते हैं । अतः शिक्षाओं के अन्तर्गत प्रातिशाख्यों का अन्तर्भाव विषय-वर्णन के दृष्टिकोण से न्यायोचित है । इस प्रकार प्राति-शाख्यों की वेदांगता और वेदांगों की छह संख्या दोनों ही बनी रहेगी । इसे अन्य शास्त्रों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण बताया गया है । "वृद्धं वृद्धि"[1] उव्वट ने भी इसकी महत्ता बताते हुये इसकी शिक्षाशास्त्रीय विषयता को बताया है । -

> " शिक्षाविहितं व्याकरणविहितं चास्मिन् शास्त्रे उभयं यतः प्रक्रीयते।
> अत एव हेतोः शिष्याणामेतच्छास्त्रश्राविणां वृद्धिर्भवति"[2].

१- शु०य०प्रा० १।१६६

२- वही उ०भा०

- भूमिका -

अर्थात् शिक्षा और व्याकरण में निहित विषयों की प्रकृष्ट रूप से इसमें चर्चा की गयी है । प्रातिशाख्य में - 'अथ शिक्षाविहिता: ।।' [१] सूत्र से स्पष्ट है कि शिक्षा में प्रतिपादित विषयों का ही प्रातिशाख्यों में निरूपण किया गया है । अत: शिक्षा तथा प्रातिशाख्य में विषय के दृष्टिकोण से सामान्यत: कोई भिन्नता नहीं है। शिक्षा, छन्द, व्याकरण में जिन विषयों का सामान्य रूप से वर्णन किया गया है उन्हीं को ऋग्वेद - प्रातिशाख्य में ' ऐसा है ' । बताया गया है ।

' शिक्षाछन्दोव्यारणै: सामान्येनोक्तलक्षणम्
तदेवमिह शाखायामिति शास्त्रप्रयोजनम् ।।' [२]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शिक्षा और प्रातिशाख्यादि में विषय के दृष्टिकोण से अन्तर नहीं है । वेदों की शाखा विशिष्ट से सम्बद्ध होने के कारण इन्हें प्रातिशाख्य कहा गया है तथा शिक्षाओं का सहगामी और प्रतिपूरक मानते हुये प्रातिशाख्यों का भी आवश्यकतानुसार उपयोग इस शोध-कार्य में किया गया है ।

संगीततत्व -

संगीततत्त्व से अभिप्राय संगीत के उन घटकों से है , जो संगीत के आधार हैं और जिनका सम्मिलित एवं सम्यक् प्रयोग ही संगीत कहा जाता है शारंगदेव ने गीत, वाद्य, तथा नृत्य को संगीत के घटक (constituents) बताया है ।

' गीतं वाद्यं नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते । ' [३]

१- शु०य०प्रा० १।२६
२- ऋ०प्रा० -पृ० ३७
३- सं०र० १।२१ पृ०-१३

- भूमिका -

संगीत की प्राचीन संज्ञा गान्धर्व भी है जिसके अन्तर्गत स्वर (Tonality) ताल (Rhythm) तथा पद (words) का समावेश है । अर्थात् इन तीनों का सम्मिलित प्रयोग ही गान्धर्व है ।[१] गान्धर्व के इस सामान्य अर्थ के अतिरिक्त उसका एक विशेष अर्थ भी बताया गया है , जो प्रयोगपरक की अपेक्षा प्रयोजन परक प्रतीत होता है ।[२]

प्राचीन काल से ही हमारे संस्कृत वाङ्मय में संगीत का व्युत्पत्ति-गत प्रचलित अर्थ ' सम्यक् गीतम् ' बताया गया है । उदाहरण के लिये वराहोपनिषत् में कहा गया है कि - संगीत में गीतादि का वैसा ही संतुलन अपेक्षित है जैसा कि शिरस्थ कुम्भ का संतुलन नहीं रखती है ।[३] संगीत-समयसार 'संगीतमकरन्द' , संगीतदर्पण आदि ग्रन्थों में भी संगीत के अन्तर्गत गीत (पद) आदि का समावेश बताया गया है । अत: स्वाभाविक रूप से ही यह तथ्य प्रगट होता है कि स्वर ताल पद (गीत) ही प्रमुख संगीततत्त्व है । जिनका वर्णन व व्याख्या शिक्षादि ग्रन्थों में यथेष्ट रूपेण प्राप्य है ।

पाश्चात्य दृष्टिकोण भी संगीत के तत्त्वों को लगभग उसी रूप में लेता है, जिस रूप में कि भारतीय दृष्टिकोण अर्थात् स्वर, ताल और पद वहाँ भी संगीत के घटक माने जाते हैं । किन्तु नृत्य को शारंगदेव की तरह संगीत में निहित न मानकर उसे एक स्वतंत्र कला के रूप में प्रतिष्ठित पाश्चात्य विद्वान् करते हैं । ' संगीत ' की आंग्ल संज्ञा म्युजिक है जिसके अन्तर्गत काव्य (गीत) आदि का समावेश किया जाता है और

१- भा०र०ल० ।। पृ०१
२- ना०शा० ३१।१०४ तथा अभिनव गुप्त टीका
३- संगीत ताललय वाद्य वंश गतापि मौलिस्थकुम्भपरिरक्षणधीर्नटीव
द०ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद् निर्णय सागर प्रति -पृ०-५२६

- भूमिका -

उसकी अधिष्ठात्री देवी ' म्यूज ' है ।[१]

संगीत में स्वर का वही स्थान है, जो मानव जीवन में बोलने की शक्ति का ।[२] स्वर की उपस्थिति संगीत को जीवन प्रदान करती है, यह रस और भाव का स्त्रोत तो है ही साथ ही संगीत का सारतत्त्व भी। ताल अथवा पद में से किसी एक का स्थगन काल विशेष में संगीत दीप्ति से किया जा सकता है, किन्तु स्वराभाव की कल्पना तक संगीत में सम्भव नहीं । ' गान्धर्व ' में तो इसे त्रिक का प्रथम कहा ही गया है, किन्तु गीत के रूप में भी वस्तुत: स्वर की ही प्रतिष्ठा ' संगीत रत्नाकर ' आदि ग्रन्थकारों ने की है ।

ताल भी संगीततत्त्वों में महत्त्वपूर्ण है । क्योंकि ताल द्वारा ही संगीत को गत्यात्मकता प्राप्त होती है तथा इससे रसादि की सम्प्रेषणीयता भी पुष्ट होती है । पोर्टनी ने ताल को अन्य संगीत तत्त्वों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है तथा उसकी तुलना श्वास क्रिया से की है ।[३] पोर्टनी का यह मत अत्युक्तिपूर्ण भले ही माना जाय किन्तु उसकी सारगर्भितता से इन्कार नहीं किया जा सकता ।

आजकल के संगीतकार भी स्वर भंग की अपेक्षा तालभंग को अधिक गम्भीर त्रुटि मानते हैं । बाह्य दृष्टि से बिना ताल के (अनिबद्ध) भी संगीत प्रयोग किया जाता है , किन्तु उसमें तालाभाव न होकर ताल प्रदर्शनाभाव होता है। आलाप,जोड़,झाला इत्यादि जो गत के पूर्व सितार,सरोद

१- द न्यू स्टेण्डर्ड एनसायक्लोपीडिया एण्ड वर्ल्ड पृ० ६११
२- इन्टरप्रिटेशन ऑफ म्यूजिक पोर्टनी पृ० ५६
३- वही पृ० ५६

- भूमिका -

इत्यादि पर बजाये जाते हैं ' सताल ' नहीं माने जाते तथा उनके साथ तबला पखावज इत्यादि की संगति भी नहीं होती, किन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो उसमें भी प्रच्छन्न रूप से ताल का निर्वाह अनिवार्य रूप से होता है । ध्रुपद गायन के पूर्व किये जाने वाले आलाप पर भी यही नियम लागू होता है ।

पद भी संगीत तत्वों में अनुपेक्षणीय है । गीतादि गायन विधाओं में तो पद उपस्थित रहता ही है साथ ही ' गत ' इत्यादि वाद्य शैलियों में भी पद होता है ' दिर, दा ' अथवा ' तिरकिट , धिरकिट ' जैसे बोलों का वाद्यों में बजाया जाना उनके ' पदात्मक ' रूप को इंगित करता है । वैसे भी पद का अर्थ (Syllabic contents) से है पद की सार्थकता अथवा निरर्थकता का प्रश्न एक पृथक प्रश्न है । भरत ने निबद्ध और अनिबद्ध के अन्तर्गत इसकी चर्चा की है ।[१]

संगीत में निरर्थक पदों का भी आकर्षण है तराना, त्रिवट आदि गायन शैलियों में निरर्थक पदों का प्रयोग और उनकी लोकप्रियता सर्वविदित है ।

संगीत के तत्वों में स्वर, ताल और पद तीनों का समान स्थान है। प्रादुर्भाव की दृष्टि से यदि स्वर प्रथम है तो अनुभव (Perception) की दृष्टि से पद का प्रथम स्थान है । स्वर और पद को बान्धने अर्थात् गति प्रदान करने के कारण ताल को ही प्रथम कहा जा सकता है अत: संगीत त्रिक में उपर्युक्त तत्वों में से किसी भी एक को न्युनाधिक महत्त्व देना समीचीन नहीं जान पड़ता ।

१- ना०शा० ३२।२८-३४ तक

- भूमिका -

संगीत के उभय पक्ष -

संगीत के स्वरूप को भलीभांति समझने के लिये उसके कलात्मक और शास्त्रपरक दोनों ही रूपों का जानना आवश्यक है । संगीत का माध्यम ध्वनि है और इस ध्वनिपरक कलाकृति को प्रस्तुत करने के लिये तत्संबंधी नियमों का पालन करना आवश्यक है । कालिदास ने भी - ' मालविकाग्निमित्रम् ' में नृत्य कला जो संगीत का अंग है, के सन्दर्भ में विज्ञान तथा शास्त्र जैसी संज्ञाओं का प्रयोग किया है ।[१] जो इस बात का प्रमाण है कि संगीत का कला के साथ-साथ शास्त्र पक्ष भी उन्हें मान्य था ।

संगीत के ऐतिहासिक विकास क्रम को देखने से यह ज्ञात होता है कि विद्वानों को संगीत के कला और शास्त्र दोनों पक्षों का विवेचन अभीष्ट रहा है । शास्त्र से अभिप्राय विषय विशेष की वैज्ञानिक व्यवस्था से है, जिसके द्वारा अनुशासन पूर्वक शिक्षा सुव्यवस्थित रूप से सम्पन्न करायी जा सके । ' शास्त्र शस्त्र की भांति ही अनुशासन से सम्बद्ध है ' ।[२] शास्त्र सिद्धान्तों की स्थापना करते हुये कला को प्रतिष्ठा और स्थायित्व प्रदान करता है। शास्त्र का प्रमुख उद्देश्य लक्ष्य और लक्षण में सामंजस्य की स्थापना करना है ।

कला और शास्त्र एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं , प्रत्युत वे एक दूसरे के पूरक हैं । शास्त्र कला के प्रतिकूल कोई तत्व न होकर उसके सूक्ष्म स्वरूप को सरलीकरण द्वारा स्थायी एवं चिरंजीवी बनाने का प्रयास कहा जा सकता है । वस्तुत: कला की प्रतिष्ठा शास्त्र से बढ़ती है और

१- ' मालविकाग्निमित्रम् अंक १ पृ० २७१ तथा २७३

२- शस्त्र और शास्त्र वीर सावरकर पृ० ३५

- भूमिका -

शास्त्र की प्रेरणा कला से आती है । शास्त्र सैद्धान्तिक होता है एवं कला प्रयोगात्मक होती है और जैसा कि सर्वमान्य है कि प्रयोग के बिना सिद्धान्त और सिद्धान्त के बिना प्रयोग पूर्ण नहीं हो सकते । प्रसिद्ध दार्शनिक सी०डी०शर्मा का इस प्रसंग में निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य है ।
"Theory is empty without Practice"[1]

कला और शास्त्र में पूर्वानुपूर्व का प्रश्न ही अप्रासंगिक है उत्पत्ति क्रम में यदि कला का स्थान पहले है तो व्यवस्था क्रम में शास्त्र पहले आता है । परांजपेजी के मत में कला पुरोगामी होने के कारण देश कालानुसार नवनवीन तत्वों को आत्मसात करती है तथा जीर्ण एवं पुरातन संकेतों को दूर कर प्रत्यक्ष जीवन से जीवनतत्व ग्रहण करती है कला की इसी प्रवाहिता को संयत करने का कार्य शास्त्र का है ।[2] किन्तु कला का वही प्रवाह शास्त्र की सम्मति का अधिकारी होता है, जो कला की कलात्मकता और उसके मौलिक स्वरूप को बनाये रखते हुये सामाजिकों की अभिरुचि का परिपोषक हो, न कि शोषक हो । (जनरञ्जनम्)[3]

प्रयोग तथा सिद्धान्त अथवा लक्ष्य और लक्षण एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, जो दृष्टि भाव से पृथक होते हुये भी, तात्त्विक भाव से अभिन्न हैं । कला विकासाकांक्षी होने से शास्त्राधार की अपेक्षा रखती है एवं शास्त्र की मर्यादा ही कला की क्रीड़ा को नियमबद्ध करती है । अतः कला और शास्त्र एक ही पथ के पथिक हैं । कला शास्त्र के और शास्त्र कला के विपरीत नहीं हो सकते । अतः प्रस्तुत प्रसंग में संगीत के उभय - पक्ष (कलात्मक तथा शास्त्रीय) समान रूप से ग्राह्य हैं/शारंगदेव के शब्दों में -

> यद्वा लक्ष्य प्रधानानि शास्त्राण्येतानि मन्वते ।
> तस्माल्लक्ष्यविरुद्धं यच्छास्त्रं नेदमन्यथा ।।[4]

१- क्रिटिकल सर्वे आफ इण्डियन फिलासफी पृ०
२- द्र मा०सं०इ० पृ०५
३- सं०र० II प्रबन्धाध्याय श्लोक ३
४- सं०र० १,२२,२४

- भूमिका -

संगीत का आध्यात्मिक व लौकिक पक्ष -

संगीत के जिस प्रकार कलात्मक और शास्त्रीय दो पक्ष पूर्व में वर्णित हुये हैं, उसी प्रकार उसके लक्ष्य की दृष्टि से लौकिक तथा - आध्यात्मिक उभय रूप प्राचीन काल से विधमान रहे हैं। गान तथा गान्धर्व अथवा देशी तथा मार्गी जैसी संगीत विषयक संज्ञायें इस ही उभय पक्ष धर्मिता का संकेत करती हैं। वर्तमान में लोकसंगीत तथा शास्त्रीय संगीत इसी द्विविधा विकास धाराओं का परिचायक है। जहाँ एक ओर भौतिक दृष्टि से संगीत को जनरंजन का साधन तथा आजीविका का माध्यम माना गया है।[1] वहीं दूसरी ओर आध्यात्मिक दृष्टि से संगीत अदृष्ट फल-दायक बताया गया है।[2] देवताओं को प्रिय होने से यह उनकी उपासना का साधन माना ही गया है। साथ ही पशु पक्षी जगत को भी प्रिय होने के कारण इसे उनका शासक कह सकते हैं। पालने में पड़ा अबोध बालक भी संगीत प्रभाव से मुक्त नहीं है, तो फिर परिपक्व बुद्धि वाले मानव की तो बात ही क्या है। शारंगदेव ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों का साधन संगीत को बताया है, विष्णु पुराण में साक्षात् भगवान का निवास ही गाते हुये भक्तों के मध्य बताया है। यही नहीं वादनरूप संगीत भी मोक्ष का प्रदाता याज्ञवल्क्य द्वारा कहा गया है। विष्णु भगवान के पवित्र नाम के गायन से सामवेद की ऋचाओं के समान फल प्राप्त होता है,

यदि वह संगीतमय हो। यज्ञादि से उतना फल प्राप्त नहीं होता जितना कि संगीत प्रयोग से। निष्कर्ष यह है कि संगीत की इस महिमा से अनेक ग्रन्थ भरे पड़े हैं। भागवत पुराण हो या मारकण्डेय पुराण,

---

१- बृहद्देशी श्लोक १-२
२- 'दृष्टादृष्टफलत्वाच्च प्रधानं गान्धर्वं'
नाट्यशास्त्र अभि०टीका पृ०-६

- भूमिका -

विष्णु धर्मोत्तर हो या अग्निपुराण, उपनिषद् हो या ब्राह्मण ग्रन्थ अथवा नाट्यशास्त्र, तथा रत्नाकर जैसे शास्त्रीय ग्रन्थ सभी में सामवेद से प्रस्फुटित होने वाली इस मधुरतम संगीत कला का पर्याप्त प्रशंसा पूर्णोल्लेख प्राप्त होता है। शिक्षा ग्रन्थों की दृष्टि से संगीत के तत्वों की चर्चा आगामी अध्यायों में की जायेगी , जिससे इस संगीत कला के प्रमुख तत्वों का उन ग्रन्थों में किया गया निरूपण तो स्पष्ट होगा ही साथ ही संगीत सम्बन्धी अनेक ऐसे बिन्दु प्रकाशित होंगे, जिन पर अभी तक विद्वानों का ध्यान नहीं जा सका है ।

मृग: सोऽपि तृणाहारो विचरन्नटवी सदा ।
लुब्धकादपि संगीतं श्रुत्वा प्राणान् प्रयच्छति ।।

सं०पा० १३

दोलायां शायितो बालो रुदन्नास्ते यदा क्वचित्
तदा गीतामृतं पीत्वा हर्षोत्कर्षं प्रपद्यते ।।

-- -- -- -- सं०पा० १२

धर्मार्थकाममोक्षाणामिदमेवैकसाधनम् ।

सं०र० १।३० पृ०१६

-- -- -- --

नाऽहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ।।

-- -- -- -- वि० पु०

वीणावादनतत्त्वज्ञ: श्रुतिजातिविशारद: ।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं स गच्छति ।।

या०स्मृति

-- -- -- --

- भूमिका -

* सम्यग्वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते ।।

ना० शि० २।८।३१

-- -- -- --

* सामगानाद्भुतं विष्णुः प्रसीदत्यमराधिपः ।
न तथा यज्ञदानाद्यैः सत्यमेतन्महामुने ।।

नारद संहिता

-- -- -- --

* विष्णु नामानि पुण्यानि सुस्वरैरन्वितानिचेत् ।
भवन्ति सामतुल्यानि कीर्तितानि मनीषिभिः।।*

सं० पा० ५

-: ० :-

- नादाध्याय -

भारतीय वाङ्मय में दर्शन का प्रभाव सर्वत्र देखा जा सकता है। उपनिषद् या वेदान्त को भारतीय चिन्तन में वर्चस्व प्राप्त रहा है। विशेषकर अद्वैत दर्शन तो एक दीर्घकाल तक अधिकांश प्रबुद्ध भारतीयों के समुदाय पर न केवल आच्छादित रहा अपितु उसके प्रभाव से विभिन्न कलाओं में तद्नुसार एकत्व का प्रतिपादन किया गया। उदाहरणार्थ स्थापत्य कला में वास्तुब्रह्म, काव्यशास्त्र (Poetics) में रसब्रह्म तथा संगीतशास्त्र में नादब्रह्म की कल्पना उपर्युक्त अद्वैतवादी दर्शन का प्रत्यक्ष प्रभाव माना जा सकता है।[१]

संसार के सभी भूतों के चैतन्य का कारण नादात्मक ब्रह्म ही है जो अद्वितीय आनन्दरूप एवं उपासनीय है।

"चैतन्यं सर्वभूतानां विवृतं जगदात्मना।
नादब्रह्म तदानन्दमद्वितीयमुपास्महे।।[२]

उपनिषद् में नाद का महत्त्व बतलाते हुये कहा गया है कि आत्मा और ब्रह्म की एकता का जब चिन्तन करते हैं, तब कल्याणकारी जोतिस्वरूप परमात्मा का नादरूप में साक्षात्कार होता है।

"ब्रह्म प्रणव संधानं नादो ज्योतिर्मय..... व्रजेत्।[३]

नादानुसन्धान योगी के लिये श्रेष्ठ साधन है -

"नाद एवानुसंधेयो योगसाम्राज्यमिच्छता।[४]

१- 'स्वतंत्रकलाशास्त्र' - के०सी०पाण्डे
२- सं०र० १।३।१ पृ० ६२
३- नादबिन्दुपनिषद् - ३०।३१।३२
४- वराहोपनिषद् - २।८३

- नादाध्याय -

तान्त्रिक सिद्धान्तानुसार सृष्टि का निर्माण शिव तथा शक्ति के संयोग का परिणाम है। दोनों का संयोग ही नाद का मूल कारण है। [१]

" सच्चिदानन्दविभवात्सकलात्परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद् बिन्दुसमुद्भव: ।

शंकराचार्य के शब्दों में नादानुसन्धान का महत्त्व निम्नलिखित है -

" सदाशिवोक्तानि सपादलक्षलयावधानानि वसन्ति लोके ।
नादानुसन्धान समाधिमेकं मन्यामहे मान्यतमं लयानाम् " ।।

आगम तथा योग ग्रन्थों में नाद एवं लय दोनों का सर्वाधिक महत्त्व दर्शाया गया है।

" शैवागम के अनुसार नाद की तीन अवस्थायें है - १- नाद २- अनाहतनाद , तथा आहतनाद । नाद अथवा महानाद का उद्भव शक्ति से बतलाया गया है, इसी नाद से बिन्दु नाद का उद्भव होता है जो अनाहत् नाद के रूप में समस्त गगन में व्याप्त रहता है। इसी का गद्यपद्यादि वाङ्मय आदि में व्यक्त वर्णमूलक रूप ' आहत ' कहलाता है। नादानुसन्धान लयसिद्धि के लिये परम साधक माना गया है। [२]

' नाद ' ध्वनि का संगीतपरक शब्द है जिसका अनुसरण भरत के उपरान्त प्राय: सभी संगीतग्रन्थ लेखकों ने किया है। शिक्षा एवं प्रातिशाख्य ग्रन्थों में नाद के स्थान पर ' शब्द ' या ' ध्वनि ' की संज्ञाओं का प्रयोग पारिभाषिक अर्थों में प्राप्त होता है किन्तु वस्तुत: तीनों ही समानार्थक हैं।

- -

१- शारदातिलक : १।७

२- उद्धृत, कल्याण शिवांक पृ० २८१

- नादाध्याय -

' नाद ' की व्युत्पत्ति -

नाद शब्द में ' ना ' एवं ' द ' में दो अक्षर हैं । ' ना ' का अर्थ प्राण एवं ' द ' का अर्थ अग्नि है । प्राण (प्राणवायु) एवं अग्नि के संयोग से नाद की उत्पत्ति होती है । अतः इसे ' नाद ' कहते हैं । उपर्युक्त तथ्य का स्पष्टीकरण ' संगीतरत्नाकर ' के निम्नलिखित श्लोक से हो जाता है ।

' नकारं प्राणनामानं दकारमनलं विदुः ।
जातः प्राणाग्निसंयोगात्तेन नादोऽभिधीयते ।।[१]

मतंग ने भी नाद शब्द की व्युत्पत्ति करते हुये ' नकार ' को प्राण अर्थ में एवं ' दकार ' को अग्नि के अर्थ में कहा है । नाद के ये दो तत्त्व स्पष्टतया मतंग द्वारा कहे गये हैं ।

' नकारः प्राण इत्याहुर्दकारश्चानलो मतः ।
नादस्य द्विपदार्थोऽयं समीचीनो मयोदितः ।।[२]

' संगीतसमयसार ' में इसी तथ्य का स्पष्टीकरण ' नकार ' को प्राण एवं ' दकार को ' अग्नि कहकर किया गया है -

' नकारः प्राण इत्युक्तो दकारो वह्निरुच्यते ।[३]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ' नाद ' शब्द के अन्तर्गत ' नकार ' ' प्राण ' अर्थ में एवं ' दकार ' अग्नि के अर्थ में प्रायः संगीतग्रन्थों में तथा संगीतेतर ग्रन्थों में प्रयुक्त किया गया है ।

१- संगीत र० १।३।६ पृ० ६४
२- बृ०दे०श्लोक २२ पृ० ३
३- सं०स०सा० श्लोक ४ पृ० १

- नादाध्याय -

' शब्द'' ध्वनि '' नाद ' परस्पर पर्याय -

संगीत एवं प्रातिशाख्य ग्रन्थों में ध्वनि के पर्यायवाची शब्द के रूप में' शब्द' पद का व्यवहार किया गया है। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के निम्नलिखित सूत्र से हो जाता है।

' अथ शब्दोत्पत्तिः' [1]

प्रातिशाख्यकार ने' शब्द' का प्रयोग ध्वनि अर्थ में किया है, जैसा कि बाद के सूत्रों से संकेत मिलता है जिसका व्यवहार अव्याकृत ध्वनि के लिये हुआ है।

त्रिभाष्यरत्नाकर ने उक्त तथ्य को स्पष्ट करते हुये कहा है - ' शब्द ही ध्वनि है, जो अकार (स्वर) तथा ककार (व्यंजन) वर्णों का उपादान कारण (Material Cause) है। जिस प्रकार भूमि-खनन के पूर्व ही जल भूगर्भ में विद्यमान रहता है तथा भूमिखनन के पश्चात् ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार की यह शब्दोत्पत्ति है।

' शब्दोनामध्वनिः वर्णानामकादीनामुपादान कारणं तदुत्पत्तिर्जन्म उपलब्धिर्वा यथोदकस्य पूर्वमेव भूमौ जलमस्तयेवतत् खननात् दृष्यते तद्वत् शब्दोत्पत्तिः [2]

बहुत प्राचीन समय से ही अव्याकृत ध्वनि के लिये' शब्द' पद प्रयुक्त किया गया है। संगीत के क्षेत्र में भरतमुनि ने शब्द का प्रयोग ध्वनि अर्थ में किया है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण निम्नलिखित है।

1- तै०प्रा० २।१

2- त्रिभाष्यरत्न, ह०लि०ग्र०नं० २१३०

- नादाध्याय -

शब्द वायुवात्मक होता है । अभिधावान् एवं स्वरवान्, दो प्रकार का (शब्द) है । अभिधावान शब्द विभिन्न भाषाओं के समाश्रित है एवं स्वरवान् शब्द विभिन्न वाद्यों के समाश्रित है ।

" वाय्वात्मको भवेच्छब्द: स चापि द्विविधो मत:
स्वरवांश्चैव विज्ञेयस्तथा चैवाभिधानवान् ।।
तत्राभिधानवान् नाम नानाभाषासमाश्रय: ।
स्वरवानपि विज्ञेयो नानातोद्यसमाश्रय:" ।।[१]

उपर्युक्तविवेचन से स्पष्ट है कि भरत ने सम्भवत: प्रातिशाख्य इत्यादि ग्रन्थों से ध्वनि अर्थ में 'शब्द' पद का प्रयोग करने की परम्परा प्राप्त की हो ।

भरत से परवर्ती संगीतशास्त्रकारों ने 'शब्द' के समानार्थक रूप में 'ध्वनि' तथा 'नाद' पदों का भी व्यवहार किया है । उदाहरणार्थ मतंग ने नाद के समानार्थक 'ध्वनि' से समस्त विश्व को आक्रान्त बताया है ।[२]

" ध्वनिर्योनि: पराज्ञेया ध्वनि: सर्वस्य कारणम् ।
आक्रान्तं ध्वनिना सर्वं जगत् स्थावरजंगमम् ।।[२]

'संगीतरत्नाकर' में कण्ठध्वनि के लिये 'शब्द' पद प्रयुक्त किया गया है ।

१- भरतनाट्यशास्त्र : ३४। २८, २९ पृ० ४०६
२- बृ०दे० श्लोक ११ पृ० १

- नादाध्याय -

" चतुर्भेदो भवेच्छब्द: खाहुलो नारटाभिध: ।
बोम्बको मिश्रकश्चेति तल्लक्षणमथोच्यते ।। [१]

पार्श्वदेव ने सांगीतिक ध्वनि की व्याख्या देते हुये उसे मन्द्रादि स्थान भेद से आरोही क्रम से स्फुट होने वाले नाद को ध्वनि कहा है।

" मन्द्रादि-स्थान-भेदेन यो नाद: स्फुरति स्फुटम् ।
आरोही-क्रमस्तज्ज्ञै: स एव ध्वनिरुच्यते ।। [२]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भरत के बाद 'सं०र०त्नाकर' में नाद के लिये 'शब्द' पद का प्रयोग किया गया है । संगीतरत्नाकर में 'शब्द' के अतिरिक्त 'नाद' पद का भी प्रयोग उपलब्ध होता है ।

" नादोपासनया देवा ब्रह्माविष्णुमहेश्वरा: ।
भवन्त्युपासिता: नूनं यस्मादेते तदात्मका: " [३]

मतंग ने 'शब्द' के पर्यायवाची रूप में 'ध्वनि' तथा 'नाद' शब्द का प्रयोग किया है ।

" ध्वनियोनि: परा ज्ञेया ध्वनि: सर्वस्य कारणम् ।
आक्रान्तं ध्वनिना सर्वं जगत् स्थावरजंगमम् ।।

" नादरूपो स्मृतो ब्रह्मा नादरूपो जनार्दन: ।
नादरूपा पराशक्तिनादरूपो महेश्वर: ।।" [४]

१- सं०र०भाग ३ श्लोक ३६ पृ० १४३
२- संगीतसमयसार : १।१०
३- सं०र०भाग १ श्लोक २ पृ० ६३
४- बृ०दे०श्लोक ११, १८ पृ० २, ३

- नादाध्याय -

उपर्युक्त श्लोकों में मतंग ने ` ध्वनि ` को सभी का कारण बताते हुये, सम्पूर्ण जगत को ` ध्वनि ` से आक्रान्त बताया है एवम् ब्रह्मा , जनार्दन , पराशक्ति तथा महेश्वर को नादरूप बताया है । अतः स्पष्ट है कि ` शब्द ` के समानार्थक रूप में ` नाद ` एवं ` ध्वनि ` पद का प्रयोग भरत के परवर्ती संगीतशास्त्रकारों ने किया है ।

नादोत्पत्ति -

` शब्द ` ध्वनि का पर्याय है इस विवेचन के पश्चात् यह प्रश्न स्वाभाविक है कि नाद या ध्वनि की उत्पत्ति किस प्रकार होती है ? शिक्षा एवं प्रातिशाख्य ग्रन्थों में नादोत्पत्ति सम्बन्धी पर्याप्त वैज्ञानिक विवेचन उपलब्ध होता है । ऋग्वेदीय पाणिनि शिक्षा के अनुसार - आत्मा बुद्धि द्वारा (बुद्धिस्थ) विषयों को प्राप्त करके (जानकर) मन को नियुक्त करता है, पुनः मन शरीर में स्थित अग्नि को प्रताड़ित करता है और वह प्रताड़ित अग्नि शरीरस्थ वायु को कम्पित करता है तथा अग्नि द्वारा प्रेरित वह वायु हृदय में होती हुई स्वर उत्पन्न करती है ।

` आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरति मारुतम् ।।
मारुतस्तुरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम् ।। [१]

१- पाणिनि शिक्षा, श्लोक ६-७

- नादाध्याय -

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नादोत्पत्ति में दो तत्त्व 'अग्नि' एवं 'वायु' प्रमुख है।

नारदीया शिक्षा में पंचम स्वर का पंचमत्व सार्थक करते हुये, वायु से समुत्थित बताया है।

"वायुः समुत्थितो नाभेरूरो हृत्कण्ठशिरोहतः।
पंचस्थानोत्थितस्यास्य पंचमत्वं विधीयते ।। [१]

अर्थात् पंचम स्वर की उत्पत्ति में वायु की भी भूमिका है, यह तथ्य नारद के उपर्युक्त श्लोक से स्पष्ट है।

उपर्युक्त शिक्षा ग्रन्थों में वायु से ध्वनि की उत्पत्ति बताई है, किन्तु इस कार्य के निमित्त प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान में से किसी विशिष्ट वायु का नाम निर्देश नहीं किया गया है। ध्वनि की उत्पत्ति का कारण कुछ लोग प्राणवायु एवं कुछ लोग उदानवायु मानते हैं। ऋग्वेदीय-प्रातिशाख्य में प्राणवायु ही कण्ठच्छिद्रानुसार श्वास अथवा नाद हो जाती है। इस तरह का विवेचन उपलब्ध है।

"वायुः प्राणः कोष्ठ्यमनुप्रदानं कण्ठस्य खे विवृते संवृते वा।
आपद्यते श्वासतां नादतां वा वक्त्रीहायाम् ।। [२]

"एवं वाचि वर्तमानं प्राणमेक आचार्या मन्यन्ते। अपर उदानं मन्यन्ते -

उपरिष्टान्मुखादग्र ऊर्ध्वं यो वर्ततेऽनिलः।
.... तेनोदानः स उच्यते ।। [३]

१- नारदीया शिक्षा १।५।१०
२- ऋग्वेदप्रातिशाख्यम् १३।१ पृ० ६७६
३- उव्वट भाष्य, ऋग्वेद प्रातिशाख्य १३।१ पृ०६७६

- नादाध्याय -

उपर्युक्त 'वायुः प्राणः कोष्ठ्यमनुप्रदानं' सूत्र 'उदान' मानने वालों तथा 'प्राण' मानने वालों के लिये भी सिद्ध है क्योंकि 'प्राण' वायु का साधारण नाम है, अतः प्राण से पांचों प्रकार की वायु को समझना चाहिये । जैसा कि उव्वट ने स्पष्ट करते हुये कहा है -

'शरीराणां पंचानामपि प्राण इति नाम साधारणम् ।
तस्मादेषामपि "वायुः प्राणः कोष्ठ्यमनुप्रदानम्" इत्येवं
सिद्धम् ।'[1]

'संगीतरत्नाकर' में प्राणवायु को मुख्य बताते हुये शब्दोच्चारण, श्वासोच्छ्वास तथा खांसी, छींकादि का कारण बताया है ।

'तेषां मुख्यतमः प्राणो..................
शब्दोच्चारणनिःश्वासोच्छ्वासकासादिकारणम् ।।[2]

उव्वट ने उदानवायु का कार्य कर्मप्रवृत्ति में बल का आरोपण करना बताया है ।

'कर्मप्रवृत्तिषु बलमारोपयत्युदानः ।'[3]

संगीतरत्नाकरकार के अनुसार देहोन्नयन एवं उत्क्रमणादि अर्थात् मरण एवं हिक्कादि (हिचकी, अव्यक्त शब्द) उदान वायु का कार्य है ।

कर्मास्य देहोन्नयनोत्क्रमणादि प्रकीर्तितम् ।'[4]

१- उव्वट भाष्य, ऋ०प्रा० १३।१ पृ० ६८०
२- सं०र० १।२।६०-६१
३- उ०भा० ऋक्प्रातिशाख्य पृ० ६७६
४- सं०र० १।२।६६

- नादाध्याय -

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उदानवायु नहीं अपितु प्राणवायु ही स्वरोत्पत्ति अथवा नादोत्पत्ति का कारण है।

ऋग्वेदीय प्रातिशाख्य के अतिरिक्त अन्य प्रातिशाख्यों में भी ध्वनि-उत्पत्ति से सम्बन्धित विवरण उपलब्ध है।
शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्यानुसार - वायु आकाश से उत्पन्न होती है। वह ध्वनि होती है। अतः स्पष्ट है कि वायु के अभाव में ध्वनि की कल्पना नहीं की जा सकती। परन्तु प्रश्न यह है कि वायु सर्वत्र व्याप्त है अतः सब जगह ध्वनि क्यों नहीं होती ? इस प्रश्न का समाधान करते हुये - कात्यायन ने 'सऽकरोप' कहा है - अर्थात सम्यक करणों से प्रताड़ित होने पर ही वायु ध्वनि रूप धारण करता है। जब कण्ठ, तालु, जिव्हा, स्थानादि संघातों का सम्मिलित प्रयत्न होता है तब वायु वाक् या वाणी का रूप धारण करती है यथा -

वायुःखात्।। शब्दस्तत् ।। सङ्करोप ।। ससङ्घातादीन्। वाक् ।। [1]

उव्वट ने भाष्य द्वारा स्पष्ट करते हुये कहा -

यदि वायुवात्मकः शब्दः वायोः सर्वगतत्वात् सदाकालं
सर्वत्रोपलब्धिः प्राप्नोतीत्याशङ्क्याह। सङ्करोपेति।
सम्यक्करणैरुपहितो हृदि वायुर्वैणुशलाकादिभिः शब्दो भवति। [2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ध्वनि वायुवात्मक होती है। शब्द वायुवात्मक होता है, यह तथ्य उव्वट के निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है।

शब्दस्तात्मको वायुवात्मक इत्यर्थः [3]

१- शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य सू०नं० ६-६
२- उ०भा० - वही -
३- उ०भा० - वही -

भरत ने भी 'शब्द को वायुवात्मक कहा है जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है ।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में ध्वनि उत्पत्ति सम्बन्धी विवरण देते हुये कहा गया -

उदराग्नि द्वारा प्रेरित: नाभि से ऊपर उठी हुयी वायु कण्ठ एवं हृदय के सन्धान में अर्थात मध्य में जाती है , और कण्ठादि में स्थित कारण विशेषों (उच्चारणवयवों) से पीड़ित या ताड़ित होती हुई , तथा मुख नासिका से निकली वायु ध्वनि या शब्द उत्पन्न करती है ।

'वायुशरीरसमीरणात् कण्ठोरसो: सन्धाने ।' १

'त्रिभाष्यरत्न' से यह बात और स्पष्ट हो जाती है ।
- अग्निवायु को प्रेरणा देता है, तथा वह कण्ठ व हृदय के मध्यदेश में जाता है, एवं ध्वनि उत्पादन का कारण बनता है ।

'वायुमग्निस्समीरयतीति वायुशरीरं तथा भूतात्समीरणा-त्प्रेरणादभिघातादित्यर्थ: कंठोरसो: संधाने मध्यदेशे शब्दोत्पत्तिर्भवति ।' २

साधारणतया अग्नि प्रज्वलित करने के लिये वायु का सहारा लिया जाता है इसी भाँति अग्नि वायु को प्रेरित करता है, यह तथ्य निम्नलिखित लौकिक उदाहरण से स्पष्ट है । चलती हवा का स्पर्श प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है । पेड़-पौधों का हिलना-डोलना देखकर साधारणतया

१- तैत्तिरीय प्रातिशाख्य २।२
२- 'त्रिभाष्यरत्न' ह०लि० पृ० १२

- नादाध्याय -

यह समझ में आता है कि ये हवा की शक्ति से हिल रहे हैं । किन्तु प्रश्न है कि हवा किस शक्ति द्वारा चालित होती है ? उत्तर है - उष्णता के कारण । कारण कि जब किसी स्थान का वायुमण्डल गर्म हो जाता है , तब उस स्थान की हवा गर्म होकर ऊपर उठ जाती है और उस ऊपर उठी हुई वायु के रिक्त स्थान को भरने के लिये अन्यत्र से वायु आकर शीघ्र ही उस स्थान को भर देती है । तात्पर्य यह है कि अग्नि या उष्णता ही वायु की गति में मूल कारण है जिसे शिक्षा व प्रातिशाख्य में भी स्पष्ट किया गया है कि अग्नि वायु को प्रेरित करती है ।

सामवेदीय प्रातिशाख्य 'ऋक्तन्त्र' में नादोत्पत्ति सम्बन्धी विवेचन निम्नलिखित है । वायु घूमती हुई श्वास हो जाती है । शाकटायन के अनुसार श्वास नाद है । वायु इस शरीर में घूमता है । वह इन विशेष अर्थात् कण्ठ-छिद्र की विभिन्न स्थिति विशेष को प्राप्त कर वायु ही श्वास हो जाता है । वह वायु शिर-स्थान को प्राप्त कर नाद हो जाता है ।

> "वायुर्मूर्छन्श्वासो भवति । श्वासो नाद इति शाकटायनः ।
> वायुरयमस्मिन् काये मूर्छत्यटतीत्येषोऽर्थः स खलु खविशेषं
> प्रतिपन्नः कण्ठं प्रतिपन्नः श्वसितिर्भवति ।
> स श्वसितिः शिरः प्रतिपन्नं आकाशद्वारकं नदतिर्भवति ।[1]

अक्षरशः इन्हीं शब्दों में सामतन्त्र एवं 'छान्दोग्व्याकरण' में भी नादोत्पत्ति सम्बन्धी विवरण उपलब्ध है अतः उसकी पुनरुक्ति नहीं की जा रही है ।

१- ऋक्तन्त्र १।१ पृ० १-२

- नादाध्याय -

अथर्ववेद सम्बन्धी 'आथर्वण प्रातिशाख्य' कुछ अंशों में तैत्रीरीय प्रातिशाख्योपलब्ध विवरण से साम्य रखता है । प्रकृत विवेचन निम्नलिखित है -

'अथ शब्दोत्पत्तिः वायुशरीरसमीरणात्कंठोरसोसंधाने' ।[१]

उपर्युक्त विवेचन तैत्रिरीय प्रातिशाख्यानुकुल है जिसे पूर्व ही विवेचित किया जा चुका है । उसके अर्थात् शब्द के हृदय, कण्ठ, शिर, मुख, नासिका प्रतिश्रुत्क स्थान है ।

'तस्य प्रातिश्रुत्कानि भवंत्युरः कंठः शिरो मुखनासिके इति'[२]

प्रतिश्रुत अर्थात् प्रतिध्वनि, उससे सम्बन्धित स्थान प्रतिश्रुत्क कहलाता है । जैसा कि पूर्व ही स्पष्ट किया जा चुका है कि - वायु कण्ठ और हृदय के मध्य में जाकर शब्द उत्पन्न करता है । यहां ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि वह वायु मात्र ध्वनि ही रहती है जब तक वह प्रतिश्रुत्क स्थानों - मुख, नासिका इत्यादि से नहीं टकराती है । इन स्थानों से टकराने पर ही वह वर्णात्मिका ध्वनि का रूप धारण करती है ।

'प्रकृतस्य शब्दस्य उरः प्रभृतीनि स्थानानि प्रातिश्रुत्कानि भवन्ति। प्रतिश्रुत्प्रतिध्वनिः तत्संबंधीनि प्रतिश्रुत्कानि ।'[३]

भरत ने भी 'स्वरवान' व 'अभिधावान' दो प्रकार का विभाजन किया है। सम्भवतः वायु हृदय, कण्ठ व शिर के मध्य में जाती है तब स्वरवान ध्वनि होती है । यही जब प्रातिश्रुत्क स्थानों से टकराती है तब वह वर्णात्मिका

१- 'आथर्वण प्रातिशाख्य' पृ० ३ (ह०लि०)
२- आ०प्रा० -वही-
३- 'त्रिभाष्यरत्न' पृ०- १२

- नादाध्याय -

या अभिधावान ध्वनि बनती है । अत: स्पष्ट है कि षड्जादि स्वरवान ध्वनि विभिन्न वाद्यों के निमित्त है एवं अभिधावान् ध्वनि विभिन्न भाषाओं के निमित्त है ।

परम्परागत नादोत्पत्ति सम्बन्धी विवरण 'संगीतरत्नाकर' में भी उपलब्ध है । इसके अनुसार - बोलने की इच्छा करते हुये यह आत्मा मन को प्रेरित करता है मन अग्नि को तथा अग्नि वायु को प्रेरित करता है। ब्रह्मग्रन्थि में स्थित यह वायु क्रम से नाभि , हृदय, कण्ठ, मूर्धा तथा मुख में जा कर ध्वनि उत्पन्न करती है ।

" आत्मा विवक्षमाणोऽयं मन: प्रेरयते मन: ।
देहस्थं वह्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।।
ब्रह्मग्रन्थिस्थित: सोऽथ क्रमाद्‌र्ध्वपथे चरन।
नाभिहृत्कण्ठमूर्धास्येष्वाविर्भावयति ध्वनिम् ।।[१]

मतंग ने प्राण से अग्नि , तथा अग्नि एवं वायु के संयोग से नाद उत्पन्न होता है यह बताया है -

" तन्मध्ये संस्थित: प्राण: प्राणद् वह्निसमुद्‌गम: ।
वह्निमारुतसंयोगान्नाद: समुपजायते ।।[२]

वाक्यपदीय में वायु को ही शब्दोत्पत्ति में मुख्यता प्रदान करते हुये क्रिया, प्रयत्न तथा स्थानों से टकराती हुई वायु शब्दत्व को प्राप्त करती है ।

- -

१- संगीतरत्नाकर' १।३।३ पृ० ६४
२- बृहद्देशी श्लोक १६ पृ० २

- नादाध्याय -

लब्धक्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्तिना ।
स्थानेष्वभिहतो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते ।।[१]

अभिशली शिक्षानुसार - कण्ठतालु इत्यादि स्थानों में अभिघात होने के कारण नाद वर्णत्व को प्राप्त करता है वह शब्द है । शिक्षाकार ने इसे 'अक्षरब्रह्म' अर्थात नित्य बताया है ।

आकाशवायु प्रभवः शरीरात समुच्चरन वक्त्रमुपैति नादः
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानः वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः ।।

तमक्षरं ब्रह्म परं पवित्रं गुहाशयं सम्यगुशन्ति विप्राः ।
स श्रेयसा चाभ्युदयेन चैव सम्यक् प्रयुक्तः पुरुषं युनक्ति ।।[२]

आपिशलम् के विवरण से स्पष्ट है कि - वायु तथा अग्नि के संयोग से नाद की उत्पत्ति होती है ।

पवन-स्याग्निसंयोगान्नदोत्पत्तिरिति स्थितिः । [३]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि किसी ने कहीं नाद की उत्पत्ति किसी ने अभिव्यक्ति ,परिणाम, विवर्त इत्यादि अनेक प्रकार से अपने मत को प्रस्तुत किया है । कुछ आचार्य वर्ण को नित्य मानते हैं, अनित्य नहीं मानते ।

एके वर्णाञ्छाश्वतिकान्न कार्यान् ।[४]

१- वाक्यपदीय १।१०८
२- अभिशली शिक्षा १।१-२
३- आपिशलम् पृ० २
४- ऋग्वेद प्रातिशाख्य - १३।१४

- नादाध्याय -

दार्शनिक विवेचन -

उपर्युक्त मतों का दार्शनिक विवेचन निम्नलिखित है -

(१) वैशेषिक मत-

इस मत के अनुसार शब्द गुण है जो आकाश पर आधारित है एवं क्षणिक कहा गया है वैशेषिक दर्शन के अनुसार नौ द्रव्यों के अन्तर्गत आकाश की गणना की गयी है तथा शब्द को आकाश्रित मानने के कारण चौबीस गुणों में गिनाया गया है शब्द को क्षणिक कहने का अभिप्राय इस मत में सम्भवत: यह है कि - जिस प्रकार रुपादि गुण आश्रय के नाश से विलक्षण तेज-संयोग रुप पाक से पहले नष्ट नहीं होते हैं , अपितु चिरकाल तक स्थिर रहते हैं । किन्तु शब्द की स्थिति ऐसी नहीं है । यह पहले क्षण उत्पन्न होता है , द्वितीय क्षण स्थित रहता है और तीसरे क्षण विनष्ट हो जाता है । नष्ट होते हुये शब्द अपने नाश के क्षण में ही अपनी जाति के दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है । आकाश मण्डल में शब्दों की यही परम्परा चलती है, जो वक्ता तथा श्रोता के मध्य रहती है । वक्ता द्वारा कहा गया शब्द वहीं विनष्ट हो जाता है। शब्द सम्बन्धी यही वीचितरंगन्याय है जिस प्रकार जल में काष्ठादि फेंकने से तरंग उत्पन्न होती है और वह तरंग नष्ट होती हुई अन्य तरंग को उत्पन्न करती है, और वह भी दूसरी को उत्पन्न करती है, इस प्रकार दूर तक तरंगों की परम्परा चलती है न कि पहली तरंग ही दूर तक जाती है । इसी प्रकार वायु की गति के कारण आकाश मण्डल में भी शब्दतरंगों की परम्परा चलती है । यह ही शब्द की क्षणिकावस्था है ।

ये शब्द तीन प्रकार के - संयोगज, विभागज तथा शब्दज हैं ।

दो के अभिघात से उत्पन्न संयोगज , दो के विभाग से विभागज, जैसे-
वंशी आदि में वायु कई छिद्रों द्वारा बाँसुरी से निकली हुई विभाग
(Sepration) के द्वारा ध्वनि उत्पन्न करती है तथा पूर्वोल्लिखित
रीति से उत्पन्न , शब्द द्वारा उत्पन्न ध्वनि शब्दज ध्वनि है । आशय यह
है कि जल में पहले से ही वर्तमान तरंग काष्ठादिन के फेंकने से उत्पन्न होती
है तथा एक तरंग दूसरी - को दूसरी तीसरी को इस प्रकार सभी तरंगे अपनी
पूर्ववर्ती तरंगों से उत्पन्न होती जाती है। उसी प्रकार पहले से ही वर्तमान
शब्द संयोग अथवा विभाग द्वारा उत्पन्न होते हैं तथा दूसरे शब्द, जल तरंग
न्याय की भाँति अपने पूर्व पूर्व शब्दों से उत्पन्न होते हैं । यही दूसरे शब्द
शब्दज शब्द हैं । कण्ठ तालु आदि में अभिघात से उत्पन्न वर्ण (शब्द) भी
संयोगज शब्द हैं उनका निमित्त कारण वायु संयोग है और इस प्रकार वायु के
गुण रूप द्वारा अपूर्व शब्दोत्पत्ति वैशेषिकों द्वारा स्वीकृत की गयी है ।

(२) जैनमत-

जैनमतानुसार शब्द द्रव्यरूप है जिस प्रकार पृथ्वी आदि के आरम्भक
परमाणु हैं । उसी प्रकार शब्दों के भी हैं । जिस प्रकार परमाणुओं के संघात से
पृथ्वी इत्यादि की उत्पत्ति होती है । शब्दरूप में परिणित होने वाले
परमाणु जब वक्ता के प्रयत्न से समाहृत होते हैं तब शब्द उत्पन्न होते है ,
यथा तन्तु इत्यादि के समाहार होने पर पदादि होते हैं इन शब्द परमाणुओं
का संयोजक वक्ता का प्रयत्न है अत: शब्दों की उत्पत्ति आकस्मिक नहीं होती।
इस मत में भी प्रयत्न से प्रेरित वायु ही शब्द के प्रति निमित्त है । अत:पाणिनि
शिक्षा द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त इन दोनो का समन्वयात्मक रूप है ।
वाक्यपदीय में जैनमत दर्शाते हुये कहा गया है -

- नादाध्याय -

"अणव: सर्वशक्तित्वाद् भेदसंसर्गवृत्तय: ।
छायातपतम: शब्दभावेनं परिणामिन: ।।
स्वशक्तौ व्यज्यमानायां प्रयत्नेन समीरिता: ।
अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्या: परमाणव :" ।।[१]

मूलाधार से वायु मुख में प्रविष्ट होकर उन-उन स्थानों में अभिघात होने पर वर्णों को उत्पन्न करता है अर्थात् अपने को अभिव्यक्त करता है जिस प्रकार दूध अवस्था विशिष्ट को प्राप्त कर दधि रूप में परिणित हो जाता है उसी प्रकार वायु अवस्था विशिष्ट को प्राप्त कर वर्णरूप में परिणित हो जाता है । इस दूसरी व्याख्या में शिक्षाकार का मत भी आ जाता है । मीमांसाभाष्य में शबरस्वामी ने शिक्षाकारों के मत को निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया है।

"शिक्षाकारा: आहु: वायुपद्यते शब्दताम् ।" [२]

अर्थात् वायु शब्दता (शब्दस्वरूपता) को प्राप्त करता है (ऐसा) शिक्षाकारों ने कहा है ।

"लब्धक्रिय: प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्तिना ।
स्थानेष्वभिहतो वायु: शब्दत्वं प्रतिपद्यते ।।[३]

(३) वैयाकरणों का मत -

वैयाकरणों ने भी यह माना है कि वायुसंयोग शब्द का व्यंजक है,

१- 'वाक्यपदीय' १।११०-१११
२- मीमांसाभाष्य, शबरस्वामी १।१।२२
३- 'वाक्यपदीय' १।१०८

- नादाध्याय -

उत्पादक नहीं है क्योंकि शब्द नित्य है । जिस प्रकार कमरे में रक्खा हुआ घटादि दीप द्वारा प्रकाशित होता है, उसी प्रकार सूक्ष्मवाक् कण्ठ तालु इत्यादि में अभिघात द्वारा उत्पन्न ध्वनि से व्यक्त होता है । जैसा कि वाक्यपदीय से स्पष्ट है।

अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मवागात्मना स्थित: ।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते ।।
स मनोभावमापद्य तेजसा पाकमागत:।
वायुमाविशति प्राणमथासौ समुदीर्यते ।।
विभाज्य स्वात्मनो ग्रन्थीन श्रुतिरूपैः पृथग्विधै :
प्राणो वर्णान् अभिव्यज्य वर्णेष्वेवायेलीयते ।।[१]

यही सूक्ष्म शब्द ख, ख परा इत्यादि नामों से भी व्यवहार क्रिया जाता है। वैयाकरण इसके दो रूप - `आन्तरस्फोट` तथा बाह्यस्फोट मानते हैं, इसे ही `मध्यमा वाक्` भी कहा जाता है जो बुद्धिमात्र से ग्रहण की जाने योग्य है । और जब यह वाक् कण्ठतालु इत्यादि के अभिघात द्वारा उत्पन्न ध्वनि होती है तब बाह्यस्फोट` कही जाती है । इसी `बाह्यस्फोट` को वैखरी भी कहते हैं ।

स्फोट का अर्थ है स्फुटित होना अर्थात् जिससे अर्थ ध्वनि के द्वारा स्फुटित होता है अथवा अभिव्यक्त होता है । शब्द की तीन अवस्थायें वैयाकरणों को मान्य है - अतिसूक्ष्म, सूक्ष्म तथा स्थूल ।
अतिसूक्ष्मावस्था का ही `परा` अथवा `पश्यन्ति` कहा गया है इस अवस्था में नाद मूलाधार चक्र में अवस्थित रहता है । शेष दो अवस्थायें इसके बाद की है।

१- `वाक्यपदीय` १।११२-१३-११५

- नादाध्याय -

सूक्ष्मावस्था जिसे `मध्यमा` भी कहते हैं अतिसूक्ष्म के पश्चात तथा स्थूल के पूर्व है इसीलिये इसे बीचवाली अर्थात् `मध्यमा` कहा गया है । तीसरी अवस्था स्थूलावस्था है जिसमें शब्द पूर्णाभिव्यक्ति प्राप्त कर लेता है इसे ही वैखरी कहा जाता है ।

" वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम ।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम् ।।[1]

इसी प्रसंग में मतंग ने भी नाद के पांच भेद बताये हैं ।

" नादोऽयं नदतेर्वार्तो: स च पंचविधो भवेत् ।
सूक्ष्मश्चैवातिसूक्ष्मश्च व्यक्तोऽव्यक्तश्च कृत्रिमः ।।"[2]

` संगीतरत्नाकर` में भी ध्वनि के पांच भेद बताये हैं जो इस प्रसंग में दृष्टव्य है ।

नादोऽतिसूक्ष्मः सूक्ष्मश्च पुष्टोऽपुष्टश्च कृत्रिमः ।[3]

वैयाकरणों के मतानुसार शब्द के व्यक्तिकरण में प्रयुक्त ध्वनि दो प्रकार की है - प्राकृत एवं वैकृत । कण्ठ, तात्वादि के अभिघात से जो प्रथम ध्वनि उत्पन्न होती है वह प्राकृत है तथा शब्द की व्यंजकता का कारण भी है । जो ध्वनि शब्दाभिव्यक्ति के बाद अनुरणन स्वरूप होती है वह ध्वनि का वैकृत रूप है ।

" स्फोटस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते ।
स्थितिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते ।। ४

- -

१- ` वाक्यपदीय ` - १।१४३
२- बृहद्देशी - श्लोक-१६
३- संगीतरत्नाकर - T ३।५

- नादाध्याय -

यह विशेष मननीय है कि वैयाकरणों के मत में नाद एक नित्य तथा विभु है। जिस प्रकार एक ही ब्रह्म का उपाधिवशात् घटादि विवर्त रूप है उसी प्रकार एक ही शब्दब्रह्म का ककारादि उपाधिवशात् विवर्त रूप है।

मीमांसकों का मत-

मीमांसकों ने भी शब्द को नित्य स्वीकार किया है। वायुसंयोग उसका व्यंजक है उत्पादक नहीं है। मीमांसकों के मत में जितने अकार है वे एक ही अकार के व्यंजकता के कारण भिन्न-भिन्न रूप हैं। यही सिद्धांत - ककारादि के सन्दर्भ में भी है। अर्थात् मीमांसकों के मतानुसार एक जाति के जितने वर्ण हैं उनकी एकता है तथा भिन्न जाति के जितने वर्ण हैं उनकी दूसरे जाति के वर्णों से भिन्नता है। किन्तु वैयाकरणों के मत में अकार ककारादि वर्णों की एकता है, क्योंकि एक स्फोट ही विभिन्न वर्णरूप तथा ध्वनिरूप से व्यक्त होता है। मीमांसानुसार शब्द नित्य है किन्तु ध्वनि को अनित्य कहा गया है। यहां पर ध्वनि, शब्द को पर्याय न होकर उसको प्रतीक है। बार-बार उच्चारण करने पर जो ध्वनि उत्पन्न होता है उससे एक ही शब्द का बोध होता है। अतः ध्वनि और शब्द भिन्न-भिन्न है इनके अनुसार ध्वनि अनित्यव शब्द नित्य है। उदाहरणार्थ - ककारादि ध्वनियां वर्णों की प्रकाशक है सैकड़ों बार 'क' का उच्चारण करने पर ध्वनियां सैकड़ों होगी किन्तु वर्ण 'क' एक ही रहेगा इसी प्रकार विभिन्न व्यक्तियों के 'क' उच्चारण करने पर ध्वनियां भिन्न - भिन्न होंगी किन्तु वर्ण 'क' वही रहेगा।

अतः 'क' ध्वनि से उत्पन्न नहीं, बल्कि व्यक्त होता है। वर्ण कण्ठ से प्रस्फुटित होता है उत्पन्न नहीं होता, कारण कि वह अनादि और नित्य है।

- नादाध्याय -

अत: मीमांसकों के मतानुसार -

" शब्द और अर्थ का सम्बन्ध आधुनिक अथवा सांकेतिक न हो कर नित्य और स्वाभाविक है ।[१]

अधिकांश दार्शनिक विचारधाराओं में शब्द अथवा नाद को नित्यनित्यादि का विचार हुआ है जिनमें से कुछ प्रतिनिधि मतों को ऊपर प्रस्तुत किया गया है सारंगदेव तथा मतंग द्वारा वर्णित नाद के पंचभेदों तथा वाक्यपदीय एवं प्रपंचसार में वर्णित चतुर्भेदो में काफी कुछ समानता देखी जा सकती है । 'संगीतरत्नाकर' में जिसे अतिसूक्ष्मनाद कहा गया है और नाभि से उत्पन्न बताया गया है उसी नाद को 'प्रपंचसार' इत्यादि में पश्यन्ति बताया गया है भर्तृहरि का भी यही दृष्टिकोण प्रतीत होता है । परा - पश्यन्ति नाद के अतिसूक्ष्म रूप है - ' अतिसूक्ष्मावस्था एवं पराशब्देन पश्यन्ति शब्देन वा उच्यते ।' २

हृदय से उत्पन्न सूक्ष्मनाद , जो सारंगदेव ने कहा है , वही मध्यमा कहा जा सकता है -

"...... हृदयगो बुद्धियुङ् मध्यमाख्य: " ३

वैयाकरणों ने जिसे वैखरी को संज्ञा दी है और जिसका स्थान मुख - वक्त्रे वैखर्यं ' बताया गया है उसे ही मतंग और सारंगदेव ने पुष्ट अपुष्ट तथा कृत्रिम इन तीन संज्ञाओं से विभूषित किया है । वस्तुत: वाणि या नाद तीन प्रकार से व्यक्त हो सकता है । जिन्हें क्रमश: कण्ठ, मूर्धा तथा

१- 'भारतीय दर्शन के मूलतत्व' रामनाथ शर्मा पृ०-३००
२- पा०शि०सं०स० पृ०-२१८
३- प्रपंचसार

मुख से अभिव्यक्त किया जाता है ।

"नाभिहृत्कण्ठमूर्धास्येष्वाविर्भावयति ध्वनिम् ।।" [1]

वैखरी के स्तर पर नाद के उपर्युक्त तीन भेद केवल संगीताचार्यों द्वारा ही वर्णित हुये हैं, जिसका कारण सम्भवत: यह है कि वार्तालाप के लिये केवल मुखाभिव्यक्त नाद ही पार्याप्त होता है, किन्तु संगीत के स्वरों की दृष्टि से जो भन्न भिन्न तारताओं के सूचक हैं, को अभिव्यक्ति देने के लिये कण्ठादि का समुचित प्रयोग आवश्यक है जैसा कि सर्वविदित है और आधुनिक विज्ञान ने भी जिसे सिद्ध किया है कि संगीत स्वरों का उतार-चढ़ाव (तारता) का कारण कण्ठस्थित स्वतन्त्री (Vocal card) है। वार्तालाप तो प्राय: एक ही तारता (Pitch) पर आधारित होने से कण्ठ के वैसे प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती जैसी कि गायन में होती है। इसीलिये शायद वैखरी के अन्तर्गत उपर्युक्त त्रिभेदों की चर्चा संगीतेतर आचार्यों द्वारा नहीं की गई है। वार्तालाप के स्तर पर जो स्वरों का उतार-चढ़ाव होता है वहप्राय: तारता परक न होकर तीव्रता (Volume) परक होता है तथा वर्णों की प्रधानता के कारण मुखावयवों के संचालन की अधिकता सहज ही समझी जा सकती है।

नाद के तीन रूप -

शिक्षादि ग्रन्थों के मनन से स्पष्ट होता है कि नाद के तीन विभिन्न स्वरूप - 'नाद' 'श्वास' एवं 'हकार' हैं। पाराशर ने रेफयुक्त नाद को 'हकार' नाद कहा है -

---

1- सं॰र॰ I 3/4 पृ-64

- नादाध्याय -

" हकारो रेफसंयुक्तो नादो भवति नित्यश: ।"[1]

'हकार' जहाँ दृष्टिगोचर होता है वहाँ नाद अवश्य होता है । अत: स्पष्ट है कि 'हकार' ह वर्ण न होकर नाद का विशेष रूप है ।

" हकारो यत्र दृश्यते तत्र नादो भवेद् ध्रुवम् ।।"[2]

ऋग्वेदीय प्रातिशाख्यानुसार -

कण्ठ छिद्र के खुले या संकुचित होने पर वायु क्रमश: श्वास या नाद हो जाती है[3] किन्तु कण्ठ छिद्र की दोनों अवस्थाओं अर्थात् संवृत विवृत के सम होने पर दोनों अर्थात् श्वास और नाद उत्पन्न होते हैं । जैसे - मुहुर्मुहु: इसे उच्चारण करने पर नाद-श्वास से संयुक्त ध्वनि उत्पन्न होगी ।

" उभयं वान्तरोभौ " ।[4]

इन्हें वर्णों की प्रकृति बताया गया है ।

" ता वर्णानां प्रकृतयो भवन्ति ।।"[5]

शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य में संवृत विवृत नामक दो करण बताये गये हैं ।

" द्वे करणे"[6]

उव्वट ने संवृत एवं विवृत नाम देकर और स्पष्ट कर दिया है । -

" संवृतविवृताख्य वायोर्भवत: ।"[7]

१- पाराशरी शिक्षा, शि०सं० श्लोक- ४६
२- - वही - श्लोक-५३
३- ऋ०प्रा० १३।१ पृ०६७६
४- -वही- १३।२
५- -वही- १३।३
६- शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य
७- उव्वटभाष्य -वही-

- नादाध्याय -

उपर्युक्त संवृत विवृत करण शरीर में आती हुई वायु के होते हैं या शरीर से बाहर निकलती हुई वायु के होते हैं ? इसका उत्तर प्रातिशाख्यकार ने शरीर से बाहर निकलती हुई वायु के होते हैं, दिया है । इस सन्दर्भ में सूत्र एवं उव्वट भाष्य निम्नलिखित है ।

" शरीरात् ।।" [1]

ये एते करणे संवृतविवृताख्ये यानि च त्रीणि स्थानानि शरीराद्वायोर्निर्गच्छतस्तानि भवन्ति ।" [2]

उपर्युक्त तथ्य का स्पष्टीकरण उव्वट ने दिया है , वह निम्नलिखित है ।

" अनुप्रदानम - वायुमनुप्रदीयत इत्यनुप्रदानम। किंच तत् ? श्वासनादोभयम्। केन प्रयत्नेन किमनुप्रदानमापद्यते ? ..... तस्यां वक्त्रीहायां स वायु: कण्ठबिले विवृते श्वासत्वमापद्यते संवृते नादत्वम ।। [3]

अर्थात् वायु के पश्चात श्वास या नाद या दोनों की उत्पत्ति विवृत संवृत प्रयत्न से होती है माहिषेय भाष्य के अनुसार अनुप्रदान - (रूप, श्वास तथा नाद) वर्णों का मूल कारण है । -

अनुप्रदीयतेऽनेन वर्ण इत्यनुप्रदानं मूलकारणम् ।
अनुप्रदीयते उपादीयते जन्यत इत्यर्थ: । [4]

उपर्युक्त भाष्य से यह स्पष्ट है कि श्वास एवं नाद के द्वारा वर्ण दिये जाते है ।

१- शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य स०-१२
२- श०य०प्रा०उव्वट भाष्य - वही -
३- उव्वट भाष्य ऋ०प्रा० पं०-६८०
४-माहिषेय भाष्य तैत्तिरीय प्रातिशाख्य २।८

- नादाध्याय -

तैत्तिरीय प्रातिशाख्यानुसार संकुचित कण्ठ होने पर ` नाद ` खुला कण्ठ होने पर ` श्वास ` तथा इन दोनों की अपेक्षा कण्ठ की मध्यावस्था होने पर ` हकार ` (ध्वनि विशेष) (उत्पन्न) किया जाता है ।

` संवृते कण्ठे नाद: क्रियते । विवृते श्वास: ।।मध्ये हकार:।` [1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि नाद के तीन रूप हो सकते हैं । इस पर यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि श्वास तो क्रिया है । इसका नाद होना कैसे सिद्ध है ? नादात्मक जगत है । अत: सृष्टि का कोई भी कार्य नाद रहित सम्पन्न नहीं हो सकता । चींटी के चलने में भी ध्वनि है जिसे कर्णेन्द्रिय ग्रहण नहीं कर पाती । इसी प्रकार श्वास भी ध्वनि सेरहित नहीं है । इसमें भी नाद की भूमिका है अत:` श्वास ` को भी शाकटायन ने नाद बताया है ।

` श्वासो नाद इति शाकटायन: ।।` [2]

उपर्युक्त` नाद ` ` श्वास ` एवं ` हकार ` वर्णाभिव्यक्ति में मुख्य स्थान रखते हैं । इन नादरूपों को वर्णों की प्रकृति बताया गया है ।

` ता वर्णानां प्रकृतयो भवन्ति ।।` [3]

अर्थात् वे वर्णों की प्रकृति होते हैं । वैसे तात्पर्य ध्वनि के तीन रूप ` नाद ` ,` श्वास ` एवं ` हकार ` से है नाद के किस रूप विशेष से किस वर्ण विशेष की उत्पत्ति होती है , यह आगे स्पष्ट किया जायेगा ।

१- तैत्तिरीय प्रातिशाख्य सू०० ४-६
२- ऋक्तन्त्र १।१ पृ० १-२
३- ऋग्वेदप्रातिशाख्य सू० १३।३ पृ०-६८२

- नादाध्याय -

वर्णोत्पत्ति

' संगीत ' के अन्तर्गत शारंगदेव ने गीत, वाद्य, तथा नृत्य इन तीनों को बताया है ।

' गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयंसंगीतमुच्यते ।। ' १

उपर्युक्त संगीत की परिभाषा में गीत का स्थान पहला है । क्योंकि वह इन तीनों में प्रधान है तथा इसका ग्रहण सामवेद से किया गया है ।

' अतोगीतं प्रधानत्वादत्रादावभिधीयते ।
सामवेदादिदं गीतं संजग्राह पितामह: ।। ' २

' गीत ' शब्द से ही स्पष्ट है कि इसमें पदों की प्रधानता है । और पद वर्णाश्रित होते हैं यह तो सर्वविदित है। अत: वर्णों की उत्पत्ति तथा उनके आश्रयभूत तत्व नाद तथा नाद और वर्ण के परस्पर सम्बन्ध की चर्चा कर लेना यहां अप्रासंगिक न होगा ।

' नादेन व्यज्यते वर्ण: पदं वर्णात्पदाद्वच: ।
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत् ।। ' ३

' संगीतरत्नाकर ' के उपर्युक्त वचन से स्पष्ट है कि पद के आधार वर्ण हैं वर्णों का उच्चारण करते समय ' शब्द ' अवश्य होता है । अत: ' शब्द ' (नाद ध्वनि) को सभी वर्णों का मूल कारण (प्रकृति) कहा गया है ।

- -

१- सं०र० १ १।२१ पृ०-१३
२- सं०र० १ १।२५ पृ०-१५
३- सं०र० १ २।२ पृ०-२२

- नादाध्याय -

" शव्द: प्रकृति: सर्ववर्णानाम् " [१]

वर्ण पद, वर्ण धातु से बना है, जिसका अर्थ वर्णनकरना है। [२] यही वर्ण समष्टि रूप में पद तथा वाक्य बनकर सांसारिक व्यवहार के निमित्त बनते हैं। मतंग के अनुसार - जगत का वे वर्णन करते हैं इसलिये उन्हें वर्ण कहा जाता है।

० " वर्णों यत्र जगत् सर्वं तेन वर्णा: प्रकीर्तिता: । " [३]

मतंग ने गान्धर्वोत्पत्ति के मूल में वर्ण को विशिष्ट महत्व प्रदान किया है तथा वर्णन क्रम में इसे प्रथम रक्खा है। वर्ण, पद, वाक्य महावाक्य तथा षडंग वेदों को बताते हुये इन सभी का ध्वनि से व्यक्त होना बताया है। इन सबके व्यक्त होने के पश्चात ही गान्धर्व सम्भव है। यह तथ्य मतंगोक्त निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है।

" वर्णपूर्वकमेतद्धि पदं ज्ञेयं सदा बुधे : ।
पदैस्तु निर्मितं वाक्य क्रियाकारकसंयुतम् ।।
ततो वाक्यान्महावाक्यं वेदा: सांगा ह्यनुक्रमात् ।
व्यक्तास्ते ध्वनित: सर्वे ततो गांधर्वसम्भव: ।। " [४]

नान्यदेव ने वर्ण का महत्व प्रतिपादित करते हुये इसकी प्रधानता बताई है। [५]

१- तै०प्रा० १०।१, आ०प्रा० पृ०-१३
२- ' संस्कृत शव्दार्थकौस्तुभ ' पृ०-१०२१
३- बृहद्देशी-श्लोक ८ ० ' वर्णयन्ति ' इति पाठ: स्यात्
४- बृहद्देशी-श्लोक ६५ १०
५- भरतभाष्य: - २।७-८
" न विना वर्णनिष्पत्ति पदं लोके प्रवर्तते ।
पदानि च विना वाक्य कुत्रचिन्नोपलभ्यते ।।
अत: प्रधानभूतत्वाद वर्णानेव सर्वश: ।
तेषां शिक्षा भ्यासमाना मुनीनां वचनादियम् ।। "

- नादाध्याय -

मतंग ने वर्ण,पद , वाक्य ,महावाक्यादि के पश्चात ध्वनिभेद तथा नादोत्पत्ति इत्यादि की चर्चा की है इससे भी ` गान्धर्व ` के सन्दर्भ में वर्ण की उपादेयता लक्षित होती है । वर्णों के अभाव में ` गान्धर्व ` या ` संगीत ` की कल्पना उसी प्रकार असम्भव है , जिस प्रकार तेल के अभाव में दीपकका प्रकाश । अत: वर्णों की उपादेयता को ध्यान में रखते हुये नादोत्पत्ति तथा नाद के तीन रूप स्पष्ट करने के पश्चात क्रमश: वर्णोत्पत्ति प्रस्तुत की जा रही है।

शव्द वर्णों की प्रकृति है । यह स्पष्ट किया जा चुका है, किन्तु शव्द के किस रूप विशेष से किस वर्ण विशेष की उत्पत्ति होती है यह स्पष्ट किया जा रहा है । नाद, श्वास तथा हकार जो नाद के तीन रूप कहे गये हैं, इनमें कुछ वर्णों की प्रकृति ` नाद ` , कुछ की ` श्वास ` तथा कुछ की हकार है। जिस प्रकार घड़े शरावादि की प्रकृति मिट्टी है । ` त्रिभाष्यरत्न ` के निम्नलिखित शव्दों से उपर्युक्त तथ्य स्पष्ट हो जाता है ।

` ये नादश्वासहकारा उक्ता: नाद प्रकृतय: केचिद्वर्ण :
श्वास प्रकृतयोऽन्येह हकार प्रकृतयोऽन्येह यथा
मृत्प्रकृतयो घटशरावादय : । ` १

` तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ` में ` नाद ` (ध्वनि) स्वर एवं घोष वर्णों का ` हकार ` (ध्वनि) ह एवं चतुर्थ वर्णों का, तथा ` श्वास ` (ध्वनि) अघोष वर्णों का मूल कारण बताया गया है ।

` नादोऽनुप्रदानं स्वरघोषवत्सु ।। हकारो ह-चतुर्थेषु ।।
अघोषेषु श्वास : ` २

१- ` त्रिभाष्यरत्न ` पृ० १२-१३
२- ` तैत्तिरीय प्रातिशाख्य सू०नं० ८-१०

- नादाध्याय -

` त्रिभाष्यरत्नानुसार ` - स्वर एवं घोषवणों में नादानुप्रदान` होता है । इसके द्वारा वर्ण दिया जाता है । अतः अनुप्रदान मूल कारण है । ` ह `एवं वर्ण के चतुर्थ वर्णों में ` हकार ` अनुप्रदान होता है तथा अघोष - वर्णों में`श्वास`अनुप्रदान होता है ।

` स्वरेषु घोषवत्सु च वर्णेषु नादाऽनुप्रदानं भवति ।
अनुप्रदीयतेऽनेन वर्णइत्यनुप्रदानं मूलकारणं.........
हकारश्चतुर्थाश्च हचतुर्थाः तेषु वर्णेषु हकारानुप्रदानं ।
भवति... अघोषेषु वर्णेषु श्वासोऽनुप्रदानं भवति ।। [१]

ऋग्वेद प्रातिशाख्य में श्वास अघोष वर्णों का नाद, घोषवर्णों का तथा सोष्म एवं ऊष्म घोषवर्णों का ` श्वास ` व नाद मूल कारण है ऐसा बताया गया है ।

श्वासोऽघोषाणां ।। इतरेषां तु नादः ।
सोष्मोष्मणां घोषिणां श्वासनादौ ।। [२]

उव्वट ने अघोष वर्णों का श्वासानुप्रदान ह एवं चतुर्थवर्णों का श्वास-नाद (दोनों) अनुप्रदान तथा शेष सभी वर्णों का नादानुप्रदान बताया है ।

` श्वासानुप्रदाना अघोषाः हचतुर्था उभयानुप्रदानाः अवशिष्टाः सर्वे नादानुप्रदाना इति वेदितव्यम् ।। [३]

उव्वट श्वास हकार तथा नादानुप्रदानों को बताते हुये उनके अस्तित्व का काल व स्थान उन-उन वर्णकालों के साथ-साथ रहता है । जिन वर्णों के वे

- -

१- ` त्रिभाष्यरत्न ` - पृ०-१३
२- ` ऋग्वेद प्रातिशाख्य ` १३।४-६
३- ` उव्वटभाष्य ` ऋ०प्रा०१३।६

- नादाध्याय -

(श्वास, हकार , नाद) अनुप्रदान होते हैं । न अधिक (समय) रहते हैं न कम। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में श्वास हकार व नादानुप्रदान रूप नादों को ध्रुव संज्ञा दी गई है ।

नादः परोऽभिनिधानाद् ध्रुवं तत्कालस्थानम् ।। [१]

' एवं श्वासादीनि त्रिष्यनुप्रदानानि वर्णकालस्थानानि भवन्ति ।
न अधिकानि, न न्यूनस्थानानि ।। [२]

ऋक्तन्त्र एवं छान्दोग व्याकरण में -
स्वर तथा घोषा वर्णों का ' नाद ' अघोष वर्णों का ' श्वास ' तथा ह एवं वर्ग के चतुर्थ वर्णों का अन्य (अर्थात् ' हकार ') अनुप्रदान (मूलकारण) है । ऐसा कहा गया है ।

' नादानुप्रदानाः स्वरघोषवन्तः । श्वासोऽघोषाणाम् ।
हचतुर्थानां सन्निवेशो अन्य : । [३]

अथर्ववेदीय प्रातिशाख्य चतुरध्यायी में - अघोषवर्णों का श्वास एवं घोष तथा स्वर वर्णों का नाद अनुप्रदान बताया गया है ।

' श्वासो घोषे अनुप्रदानः । नादो घोषवत्स्वरेषु ।।[४]

अन्य प्रातिशाख्यों की भांति आथार्वणी प्रातिशाख्य में भी निम्नलिखित सूत्रों में उपर्युक्त तथ्य की चर्चा की गई है ।

' नादोऽनुप्रदानं स्वरघोषवत्सु । हकारो हचतुर्थेषु । अघोषेषु श्वास :

- -

१- ऋग्वेदप्रातिशाख्य ' - ६।३६
२- उव्वटभाष्य - १३।७
३- ऋक्तन्त्र , छान्दोग्यव्याकरण पृ०-१-२
४- ' चतुरध्यायी '
५- ' आथर्वणी प्रतिशाख्य - पृ०-१३

- नादाध्याय -

उपर्युक्त प्रातिशाख्यादि के विवेचन से स्पष्ट है कि वर्णोत्पत्ति में ` नाद ` , ` श्वास ` तथा ` हकार अनुप्रदानों के अतिरिक्त अन्य तथ्य भी कार्य करते हैं यथा स्वर, काल स्थान तथा प्रयत्न जैसाकि पाणिनीय शिक्षा के निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट है ।

` सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः ।
वर्णान जनयते तेषां विभागः पंचधा स्मृतः ।।
स्वरतः कालतः स्थानात प्रयत्नानुप्रदानतः ।। [१]

आथर्वणा प्रातिशाख्यकार ने भी पांच तथ्यों को बताते हुये वर्णवैशिष्ट्य को दर्शाया है ।

` अनुप्रदानात्संसर्गात्स्थानात्करणाविन्ययात् जायते ।
वर्णवैशेष्यं परिमाणाच्च पंचमादिति ।। [२]

तैत्तिरीय प्रातिशाख्यानुसार - अनुप्रदान से संसर्ग से , स्थान से , करण से तथा परिमाण से वर्णों में वैशिष्ट्य उत्पन्न होता है ।

` अनुप्रदानात्संसर्गात् स्थानात्करणाविभ्रमात् ।
जायते वर्णवैशेष्यं परिमाणाच्च पंचमात ।। [३]

ऋग्वेद प्रातिशाख्य में उपर्युक्त पाच तथ्यों को वक्ता का गुण बताया गया है । अर्थात वक्ता के प्रयत्नात्मक गुणों के होने पर , वर्णत्व को प्राप्त होती हुई , एक ही ध्वनि कर्म के द्वारा विशेष गुणों के योग से बहुत रूपों को प्राप्त होती है ।

- -

१- ` पाणिनीय शिक्षा ` - श्लोक ६-१०
२- ` आथर्वणा प्रातिशाख्य - पृ०-१२
३- ` तैत्तिरीय प्रातिशाख्य - २३।२

- नादाध्याय -

" प्रयोक्तुरीहागुणसंनिपाते वर्णोभिवन्गुणविशेषयोगात् ।
एक: श्रुती? कर्मणाप्नोनि बध्वी : ।। [१]

वे विशेष गुण क्या है ? जिनके साथ संयोग होने पर वर्ण श्रुतिभेद को प्राप्त करते है ? इसके उत्तर में उव्वट ने अनुप्रदान, संसर्ग, स्थान, करण तथा परिमाण बताया है ।

" केऽत्र गुणविशेषा यै: संयोगाद्वर्णानां श्रुतितो विशेषो भवति ?
अनुप्रदानसंसर्गस्थानकरण परिमाणाख्यास्तै: सह संयोगाद्वर्णानां रूपभेदो भवति ।। २

नान्यभूपाल ने 'भरतभाष्य' में इन पांचों का उपयोग वर्णोच्चारण में बताया है ।

" स्थानात्प्रयत्नात् कालाच्च स्वराच्चानुप्रदानत: ।
उच्चरयन्ति ते वर्णस्तथा शिक्षाऽभिधीयते ।। [३]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वर्णों की प्रधानता जगत व्यवहार के लिये अत्यावश्यक है । जगतव्यवहार के लिये ही नहीं अपितु संगीताभिव्यक्ति के लिये भी उतना ही आवश्यक है । इसीलिये संगीतग्रन्थों में वर्ण की चर्चा को यथेष्ट स्थान प्राप्त है । वर्णोत्पत्ति के अनन्तर वर्णों के (स्वर व्यंजन) की स्थान की चर्चा प्रस्तुत की जा रही है ।

स्थान -

शिक्षा प्रातिशाख्यों तथा संगीत ग्रन्थों में मुख्यतया अधिक से अधिक आठ कम से कम तीन वाक् के स्थान बताये गये हैं , जिनका संक्षिप्त विवेचन निम्नलिखित है ।

१- 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य - १३।१३
२- उव्वट भाष्य, ऋ०प्रा० -वही
३- 'भरतभाष्य' २।४

- नादाध्याय -

" अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा
जिव्हामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ।"

स्थान शब्द का अर्थ क्या है ? यह इसकी व्युत्पत्ति से स्पष्ट है स्था धातु में ल्युट प्रत्यय से " स्थान " शब्द बनता है अर्थात शब्दोच्चारण करते समय तालु इत्यादि में वायु के अभिघात से गति अवरुद्ध होती है । उसे स्थान कहते हैं। ये स्थान वस्तुतः वर्णोत्पादक वायु के हैं वर्णों के नहीं । वर्णों के स्थान हैं ऐसा व्यवहार मात्र औपचारिक (गौण) है । क्योंकि वायु ही अवस्था विशेष को प्राप्त कर वर्ण रूप धारण करती है । उपर्युक्त तथ्य वाक्यपदीय के निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट है ।

" लब्धक्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्तिना ।
स्थानेष्वभिहतो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते ।" [1]

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में स्वरों का जहां उपसंहार होता है , उसे स्थान बताया गया है ।

" स्वराणां यत्रोपसंहारः तत्स्थानम ।
अन्येषां तु स्पर्शनम ।।" [2]

उपसंहार का अर्थ तैत्तिरीय प्रातिशाख्य त्रिभाष्यरत्न में समीप लाना बताया है।

" उपसंहारः उपश्लेषणं समीपनयनम् इति यावत् ।। [3]

- -

१- वाक्यपदीय १।१०८
२- तैत्तिरीय प्रातिशाख्य १।२।३१-३२
३- तै०प्रा०त्रिभाष्यरत्न २।१२

- नादाध्याय -

अर्थात स्वरों के उच्चारण में जिव्हादि जिस जगह सन्निकृष्टता होती है वह स्वरों का स्थान है किन्तु व्यंजनों के उच्चारण में जिव्हादि का जहाँ स्पर्श होता है वह व्यंजनों का स्थान है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्वरों के उच्चारण में जिव्हादि उच्चारणावयवों की सन्निकृष्टता मात्र रहती है। इसलिये किन्तु व्यंजनों के उच्चारण में स्पर्श होता है। इसलिये स्वर व्यंजन के स्थानों को पृथक-पृथक बताया गया है। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण पारिशिक्षा में निम्नलिखित शब्दों में किया गया है।

" अत्रां यत्रोपसंहारस्तत्स्थानं क्रियतेऽत्र तु ।।
व्यंजनान्तु तत्स्थानं स्पर्शेन क्रियते तदा ।। [१]

सूत्रात्मक पाणिनिशिक्षा एवं आपिशली शिक्षा में जिस जगह वर्ण उपलब्ध होते हैं उसे स्थान कहा गया है।

" इह यत्र स्थाने वर्णा उपलभ्यन्ते तत्स्थानम् ।। [२]

पाणिनिशिक्षा में वर्णों के आठ - उर, कण्ठ, शिर ,जिव्हामूल दन्तोष्ठ तालु तथा नासिका स्थान बताये गये हैं। स्थान की परिभाषा नहीं दी है।

" अष्टौ स्थानानि वर्णानामुर: कण्ठ: शिरस्तथा ।
जिव्हामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ।। [३]

माण्डूकी तथा शैशरीय शिक्षा में पाणिनि शिक्षा की भाँति ही आठ स्थान बताये गये हैं।

१- पारिशिक्षा - ३६।४१
२- 'आपिशली शिक्षा' ७।३
३- 'पाणिनि शिक्षा - श्लोक १३

- नादाध्याय -

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुर: कण्ठ: शिरस्तथा।
जिव्हामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ।। [१]

इसी प्रकार अन्य शिक्षा ग्रन्थों - यथा - याज्ञवल्क्यीय वर्णरत्न प्रदीपिका लघुमाध्यन्दिनी, षोड्षश्लोकीय, लोमशी, पारि इत्यादि शिक्षाओं में भी वर्णों के स्थान सम्बन्धि विवरण उपलब्ध है ।

संगीत के प्रतिनिधि ग्रन्थ ` नाट्यशास्त्र ` में भी वर्ण सम्बन्धी विचार इस प्रकार व्यक्त किये गये हैं ।

कण्ठतालु स्थानगतास्तु चछजझजा: ।
टठडढण मूर्धन्यास्तथदधनाश्चैव दन्तस्था :।
पफबभमास्त्वोष्ठ्या: स्यु: दन्त्या लृलसा अहौच कण्ठस्थौ
तालव्या इयशा स्युर्ऋटुरषा मूर्धस्थिता ज्ञेया :।
ओऔ तु कण्ठोष्ठस्थानौ एऐकारौ च कण्ठतालव्यौ।
कण्ठ्यो विसर्जनीयो जिव्हामूलभव: कखयो :
पफयोरोष्ठं स्थानम्................ ।। [२]

अर्थात च, छ, ज, झ के कण्ठ व तालु ट, ठ, ड, ढ, ण के मूर्धा, त, थ, द , ध, न के दन्त, प , फ, ब , भ, म के ओष्ठ, स्थान हैं । लृ , ल , स के दन्त , अ, ह के कण्ठ, इ, य, श के तालु ऋ, ष के मूर्धा, ओ, औ के कण्ठोष्ठ , ए, ऐ , के कण्ठ तालु विसर्ग का कण्ठ क ख के जिव्हामूल एवं प, फ के ओष्ठ स्थान है । उपर्युक्त स्थान भाषा से सम्बन्धित है यह स्पष्ट हो है । किन्तु इन आठ स्थानों में स्वर से सम्बन्धित उर, कण्ठ, शिर हैं ।

- -

१- माण्डूकी शिक्षा ७।११ व शैशरीय शिक्षा
२- ` नाट्यशास्त्र ` - १४

- नादाध्याय -

ऋग्वेद प्रातिशाख्य में मन्द्र , मध्य, उत्तम वाणी के,सातयमों वाले, तीन स्थान बताये गये हैं ।

* त्रीणि मन्द्रं मध्यममुत्तमं च
स्थानान्याहुः सप्तयमानि वाचः [1]

नारदीया शिक्षा में भी वाणी के तीन ही स्थान, उर, कण्ठ, शिर बताते हुये इन्हें प्रातः मध्यान्ह व तृतीय (सायंकालीन) सवन से युक्त बताया गया है ।

* उरः कण्ठः शिरश्चैव स्थानानि त्रीणि वाङ्मये ।
सवनान्याहुरेतानि साम वाड्प्यथैतोन्तरम ।। [2]

पाणिनि शिक्षा में भी तीन सवनों (सोमलता, उखाड़ना , पीसना, छानना इत्यादि कार्यों) में छन्दों के विशिष्ट प्रयोग को बताते हुये तीन स्थान बताया गया है ।

* प्रातः सवनयोगं तच्छन्दो गायत्रमाश्रितम ।।
कण्ठे माध्यं दिनयुगं मध्यमन्त्रैष्टुभानुगम् ।।
तारं तार्तीय सवनं शीर्षण्यं जागतानुगम् ।। [3]

इसके अतिरिक्त तीनों सवनों के क्रमशः उर, कण्ठ, एवं शिर स्थानीय स्वरों का प्रयोग जीवधारियों की बोलियों से उपमित करते हुये बताया गया है ।

* प्रातः पठेन्नित्यमुरस्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन ।
मध्यं दिने कण्ठगतेन चैव चक्राह्वसङ्कूजितसंनिभेन ।।
तारन्तु विधात्सवनं तृतीयं शिरोगतंच सदा प्रयोज्यम।
मयुरहंसान्यभृतस्वराणां तुल्येन नादेन शिरसिस्थतेन ।। [4]

१- ऋग्वेद प्रातिशाख्य - १३।४२
२- नारदीय शिक्षा १।१।७
३- शिक्षासंग्रह (पाणिनि शिक्षा) श्लोक ७-८
४- शिक्षासंग्रह (पाणिनि शिक्षा) श्लोकः ३६-३७

- नादाध्याय -

उपर्युक्त श्लोक का तात्पर्य यह है कि प्रात: हमेशा हृदयस्थ स्वरों से पाठ करना चाहिये , जो सिंहनाद की तरह गम्भीर हों । मध्यान्ह से चकवा पक्षी की आवाज की तरह कण्ठ स्थानीय स्वर से पढ़ना चाहिये । तृतीय सवन शिरस्थानीय तार स्वरों का प्रयोग करना चाहिये, जो नाद मयूर,हंस, कोयल की तरह होते हैं ।

शौनकीय शिक्षा में तीन स्थानों का प्रतिपादन किया गया है ।

" त्रिस्थानं च त्रिमानं च त्रिब्रह्मंच त्रियदारम् । " [१]

शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्यकार ने तीनों सवनों के क्रम से उर ,कण्ठ ,तथा भ्रूमध्य (शिर) तीन स्थान बताये हैं ।

" सवनक्रमेणोर: कण्ठभ्रूमध्यानि । त्रीणि स्थानानि ।। [२]

उव्वट ने शरीर में उर, कण्ठ, शिर को वायु के तीन स्थान हैं ऐसा स्पष्ट किया है ।

" त्रीणि स्थानानि वायोर्भवन्ति उर: कण्ठशिरात्मकानि शरीरे ।" [३]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वायु के तीन स्थान हैं, न कि नाद के । चूंकि नाद वायुवात्मक होता है, अत: वायु के तीन स्थान हैं ऐसा उव्वट ने स्पष्ट किया है किन्तु नाद के तीन स्थान होते हैं ऐसा व्यवहार किया जाता है। वास्तवें में देखा जाय तो कण्ठप्रदेश में स्थित स्वरयन्त्र में जब वायु द्वारा आघात होता है, तब स्वरयन्त्रस्थित झिल्लियों में कम्पन होता है और नाद उत्पन्न होता है। यदि शल्यक्रिया द्वारा इन झिल्लियों को निकाल दिया जाय तो केवल उर या शिरस्थान से ध्वनि न आ पायेगी । वास्तव में शरीर में

- -

१- " शौनकीय शिक्षा " श्लोक -६४
२- शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य १।३०,१०
३- उव्वट भाष्य - वही -

- नादाध्याय -

ध्वनि उत्पादक यन्त्र कण्ठस्थान में ही स्थित है* उर या शिर में नहीं। गूंगे मनुष्यों के हृदय एवं शिर, कण्ठादि होता है किन्तु फिर भी वे बोलने में असमर्थ होते हैं । क्योंकि वास्तव में नादोत्पत्ति के अन्य अवयव यथा जिव्हा या स्वरयन्त्र में अवश्य कोई दोष होगा तभी वे नादोत्पन्न नहीं कर पाते । उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नाद का मुख्य स्थान कण्ठ है तथा अन्य स्थान यथा जिव्हा , तालु दन्त उर शिरादि गौण होते हुये उसके सहयोगी स्थान है । इनमें भी उर, कण्ठ, शिर मुख्यत: गायन सम्बन्धी स्वरात्मक नाद के स्थान हैं तथा शेष पांच जिव्हामूल, दांत, ओष्ठ, नासिका व तालु मुख्यत: भाषात्मक नाद से सम्बन्धित है किन्तु फिर भी भाषात्मक नादस्थान स्वरात्मक नाद स्थान के एवं स्वरात्मक नादस्थानभाषात्मक नादास्थान के सहयोगी है। भाषात्मक एवं स्वरात्मक नाद का अन्तर बहुत ही सूक्ष्म है जिसका अन्तर करना कठिन है । जरा से अन्तर में वे एक दूसरे के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाते हैं । ये ऐसे ही है जैसे एक चने के दो भाग । डा० सुभद्रा चौधरी के शब्दों मे - जैसे बीज के दो दल होते हैं,* उसी प्रकार ये दोनो भी वाक्तत्व के दो दल हैं । वर्णात्मिका वाणी में सार्थक पद होने के कारण अर्थ या विचार की अभिव्यक्ति की प्रधानता होती है और नादात्मिक वाणी में विशुद्ध नाद होने से भाव सामान्य की अनुभूति का प्राधान्य रहता है। दोनों की विभाजक रेखा बड़ी सूक्ष्म है । जरा सा इधर-उधर होते ही एक के दूसरे क्षेत्र में प्रवेश कर जाने का अन्देशा रहता है । अभिव्यक्ति का मूलमाध्यम दोनों में एक-ध्वनि-है इसलिये भाषा और संगीत का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

---

* शोधप्रबन्ध - पृ०३६३ डा०सुभद्रा चौधरी, संगीत शास्त्र विभाग
(प्रकाशित हो चुका है) का०हि०वि०वि०
वाराणसी ।

- नादाध्याय -

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में वाक् के साथ स्थानों का विवेचन उपलब्ध होता है ।

" सप्तवाचस्स्थानानि भवन्ति ।।"[१]

इन स्थानों के नाम क्रमशः उपांशु, ध्वान, निमद, उपब्दिमत् मन्द्र ,मध्य एवं तार हैं ।

" उपांशुध्वाननिमदोपब्धिमन्मन्द्रमध्यताराणि ।।"[२]

उपांशु -

ध्वनि तथा मनोयोग रहित किन्तु करणों (संवृत,विवृतादि) से युक्त वाक्-स्थान को 'उपांशु ' नाम दिया गया है । वाक् के इस स्थान से (स्वर व्यंजन) अक्षरों की प्राप्ति नहीं होती अर्थात श्रवणगोचर नहीं होते केवल मुखावयव हिलते रहते हैं ।

ध्वान -

अक्षर के अपने करणों से युक्त होते हुये भी, जब स्वर या व्यंजन की उपलब्धि नहीं होती है, तो वह वाणी का ' ध्वान ' स्थान कहलाता है।

निमद -

करणों से युक्त होने पर जब स्वर व्यंजन की उपलब्धि होती है तो उस स्थान को निमद कहते हैं ।

१- तैत्तिरीय प्रातिशाख्य २३।४
२- - वही - २३।५

- नादाध्याय -

उपब्दिमत -   करणों से युक्त एवं ध्वनि सहित जब सुस्पष्ट स्वर व्यंजनों की उपलब्धि होती है तब उस स्थान को उपब्दिमत कहते हैं ।

मन्द्र -   हृदय से जब शब्दोच्चारण होता है, तब वह मन्द्र-स्थान कहलाता है ।

मध्य-   कण्ठ से जब शब्दोच्चारण होता है तो वह मध्य स्थान कहलाता है ।

तार -   जब शिरस्थान से शब्दोच्चारण किया जाता है तब उसे तार स्थान कहा जाता है ।

> करणवदशब्दममन: प्रयोगमुपांशु ।।
> अकार व्यंजनानामनुपलब्धिध्वनि: ।। उपलब्धिर्निमद:।।
> सशब्दमुपब्दिमत्। उरसि मन्द्रम।। कण्ठे मध्यमम।। शिरसितारम ।।[1]

उपर्युक्त वर्णित वाक्स्थानों में केवल 'उपांशु' ही ऐसा स्थान है जहाँ ध्वनि श्रवणगोचर नहीं होती । ध्वनि व निमद स्थान में ध्वनि होती है परन्तु अस्पष्ट और बहुत धीमी, जिसे केवल वक्ता ही श्रवणानुभव कर सकता है। ध्वनि में स्वर व्यंजन का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता । मात्र ध्वनि सी अनुभव होती है । ' निमद ' में स्वर व्यंजन की उपलब्धि होती है ।' उपब्दिमत ' में सुस्पष्ट ध्वनि सहित वर्णों की उपलब्धि होती है । इसके अतिरिक्त मन्द्र मध्य तार-स्थान में स्पष्ट ध्वनि रहती है। प्रथम चार स्थान ' उपांशु ' ध्वनि ' निमद' उपब्दिमत तीव्रता से सम्बन्धित जान पड़ते हैं । तथा मन्द्र मध्य तार ये स्थान तारता प्रधान प्रतीत होते हैं ।

१- तैत्तिरीय प्रातिशाख्य - ११।६-१२ पृ०-१८२-८३

- नादाध्याय -

उपांशु पाठ से सहस्त्र सन्देह ही होते हैं । जैसा कि नारदीय शिक्षा में कहा गया है -

" उपांशु त्वरितं चैव योऽधीते नित्रसन्निव ।
अपि रूपसहस्त्रेषु सन्देहेत्वेव वर्तते ।।" १

चूंकि इस स्थान में ध्वनि श्रवणगोचर नहीं होती अत: मन्त्र स्वरूप क्या है ? इसमें सन्देह होना स्वाभाविक ही है । किन्तु जप, यज्ञादि धार्मिक कार्यों में कहीं-कहीं मन्त्रों के उपांशु पाठ का विधान भी प्राप्त होता है । इस स्थल पर उपांशु पाठ दोष नहीं अपितु गुण ही है ऐसा माना गया है ।

" उपांशुत्वस्य अन्यत्र दोषत्वेऽपि जपादौ उपांशुच्चारणस्यैव विधानात, न त त्र दोषत्वम ,प्रत्युत गुणत्वमेव ।।" २

किन्तु संगीत की दृष्टि से तीन स्थान ही विशिष्ट उपयोगी हैं। जिनका विवेचन प्रातिशाख्य, शिक्षा तथा संगीतग्रन्थों में उपलब्ध होता है ।

संगीत स्वरों की दृष्टि से तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में मन्द्र मध्य तार तीन स्थान बताते हुये , क्रुष्टादि सात-सात साम्कि स्वरों का उन स्थानों मे होना बताया गया है ।

" मन्द्र-मध्य-ताराणि-स्थानानि भवन्ति।। तत्रैकविंशतिर्यमा: ।। मन्द्रादिषु त्रिषु स्थानेषु सप्त-सप्त यमा: क्रुष्ट-प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ-मन्द्रा-तिस्वार्या: ।।" ३

शिक्षा प्रातिशाख्यों की अपेक्षा संगीत ग्रन्थों में नाद के अधिक से अधिक पांच कम से कम तीन स्थान बताये गये हैं ।

१- पा०शि०सह-समीक्षा पृ०-२०४
२- तै०प्रा० ११।११-१२-१३ पृ० १७६

- नादाध्याय -

मतंग ने सूक्ष्म नाद का स्थान गुहा (नाभि) अतिसूक्ष्म का हृदय, व्यक्त नाद का कण्ठ, अव्यक्त नाद का तालु तथा कृत्रिम नाद का स्थान मुख बताया है ।

" सूक्ष्मो नादो गुहावासो हृदये चातिसूक्ष्मकः ।
कण्ठमध्ये स्थितो व्यक्तः अव्यक्तस्तालुदेशके ।
कृत्रिमो मुखदेशे तु ज्ञेयः पंचविधो बुधैः ।। [१]

' संगीतरत्नाकर ' में यद्यपि पांच स्थानों की चर्चा है किन्तु उनमें भी मन्द्र ,मध्य, व तार स्थान को व्यवहार की दृष्टि से बताया गया है ।

" नाभिहृत्कण्ठमुर्धास्येष्वाविर्भावयति ध्वनिम् ।।

-- -- -- -- -- -- -- -- --

" व्यवहारे त्वसौ त्रेधा हृदि मन्द्रा अभि धीयते ।
कण्ठे मध्यो मूर्ध्नि तारो द्विगुणश्चोत्तरोत्तरः ।। [२]

' संगीत समयसार ' में बाइस ध्वनियों से युक्त तीन स्थानों - हृदय, कण्ठ एवं शिर की चर्चा की है ।

" त्रीणि स्थानानि हृत्कण्ठशिरसीति समासतः ।
एकैकमपि तेषु स्याद द्वाविशंतिविधायुतम ।। [३]

१- ' बृहद्देशी ' - श्लोक २३-२५ पृ०-२
२- ' संगीतरत्नाकर - भाग१ ३।४२७
३- ' संगीत समयसार ' पृ० ६६-६७

- नादाध्याय -

'संगीतपारिजात' में हृदय, कण्ठ, शिर स्थान में क्रमश: अनाहत चक्र, विशुद्धचक्र तथा सहस्त्रार चक्र बताते हुये इन्हें क्रमश: मन्द्र, मध्य तार से सम्बन्धित बताया है ।

'हृत्यनाहतचक्रे ऽस्मिन्ननिलानलयोगत: ।
आहतस्तत्र नाद: स्यादिति शास्त्रे प्रकीर्तितम।।
कण्ठे विशुद्धचक्रं स्यात् सहस्त्रारं तु मुर्द्धनि।
मन्द्रमध्यताराख्या भवेयुस्तेषु तु क्रमात् ।।' १

'रागविबोध' के अनुसार - हृदय, कण्ठ, मूर्धा स्थित नाद क्रम से मन्द्र, मध्य, तथा तार कहे जाते हैं ।

'हृत्कण्ठमुर्धनादा: क्रमादमी मन्द्रमध्यताराख्या: ।।' २

'संगीतदर्पण' में दामोदर पण्डित ने अतिसूक्ष्म, सूक्ष्म, पुष्ट, अपुष्ट तथा कृत्रिम ध्वनि की चर्चा करते हुये इसके नाभि, हृदय, कण्ठ, मूर्धा तथा मुख पाँच स्थान बताये हैं ।

'अतिसूक्ष्मध्वनिं नाभौ हृदि सूक्ष्मं गले पुन: ।।
पुष्टं शीर्षे त्वपुष्टं च कृत्रिमं वदने तथा।
आविर्भावयतीत्येवं पंचधा कीर्त्यते बुधै: ।। ३

'वैदिकपदविज्ञानम्' शोधप्रबन्ध में हृदय, कण्ठ, शिर को स्थान क्रमश: अनुदात्त स्वरित तथा उदात्त का स्थान बताया गया है ।

१- 'संगीतपारिजात - श्लोक ३६-३७
२- रागविबोध - सोमनाथ
३- संगीतदर्पण - श्लोक ३५-३६

- नादाध्याय -

ना०शि० में छह स्थानों से उत्पन्न होने के कारण उसे षड्ज कहा गया है। अन्यथा इसके पश्चात छह स्वर उत्पन्न होते हैं इसलिये षड्ज है । या ये छेह स्वरों को उत्पन्न करने वाला है इसलिये षड्ज है ।

> " एतदुच्चारणस्थानानि त्रीणि। १- उरः - हृदयम । २- शिरः । ३- कण्ठश्चेति । अस्य तात्पर्यम् अनुदात्तस्वरस्योच्चारणं हृदयतः उदात्त उदात्तस्वरस्योच्चारणं। शिरसः मूर्धातु : स्वरितस्वरस्योच्चारणम् कण्ठश्च भवति ।। [1]

यद्यपि उदात्तादि में संगीत के सातों स्वरों का अन्तर्भाव शिक्षादि ग्रन्थों में दर्शाया गया है (स्वराध्याय में प्रस्तुत किया जायेगा)। इस दृष्टिकोण से उर कण्ठ तथा शिर ही सातों स्वरों के स्थान होने चाहिये । किन्तु नारदीया शिक्षा में षड्जादि की नाम निरुक्ति बताते हुए निम्नलिखित स्थानों यथा - नाक, कण्ठ, उर, तालु जिव्हा दांतादि की चर्चा की है। सम्भवतः वर्णात्मिका नाद के दृष्टिकोण से इन स्थानों की चर्चा की गई होगी।

> " नासां कण्ठमुरस्तालु जिव्हां दंताश्च संश्रितः ।
> षड्भिः संजायते यस्मात्तस्मात्षड्ज इतिस्मृतः ।। [2]

जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि नारद ने उर, कण्ठ, शिर तीन स्थान बताये हैं एवं तीनों स्थान में सात स्वरों का होना बताया है ।

> " उरः सप्तविचारं स्यात्तथा कण्ठस्तथाशिरः ।। [3]

" सप्तविचार " का अर्थ भट्टशोभाकर ने सप्त स्वरों का विचारण बताया है ।

> " सप्तानां स्वराणां विचारणं विचार इति " । [4]

१- " वैदिकपदविज्ञानम पृ० २५० विश्वनाथ वामन देव वा०सं०विश्वविद्यालय, वाराणसी

२- ना०शि० १।५।७

३- ना०शि० १।१।८

४- ना०शि० १।१।८ भटशोभाकर की टीका

- नादाध्याय -

" तथाकण्ठस्तथाशिरः । अर्थात् उसी प्रकार कण्ठ स्थान में सात स्वर एवम् शिरस्थान में सात स्वर विचरण करते हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से स्वरों का त्रिस्थानीय होना प्रमाणित होता है । षड्ज बोलने पर वायु, दांत, जिव्हादि से टकराती ही अवश्य है चूंकि मुंह में दांत है, जिव्हा है अतः निकलती वायु इन स्थानों से टकराये बिना निकलजाय सम्भव नहीं है। अतः स्वरात्मक नाद के मुख्यस्थान उर,कण्ठ शिर तथा दन्त , नासिका, ओष्ठ, तालु जिव्हादि उसके सहयोगी स्थान कहे जा सकते हैं । इसके विपरीत वर्णात्मक नाद के मुख्य स्थान कण्ठ,तालु,दन्त, ओष्ठ जिव्हा, नासिकादि तथा उर ,कण्ठ, शिरादि उसके सहयोगी स्थान माने जा सकते हैं । शरीर की बनावट को ध्यान में रक्खा जाय तो कण्ठ ही नाद का मुख्य स्थान है । यदि कण्ठ स्थान से स्वरयंत्र शल्य क्रिया द्वारा निकाल दिया जाय तो आहतनाद (स्वरात्मक वर्णात्मक) शरीर के अन्य किसी भी अंग से जो उत्पन्न नहीं हो पायेगा । तब नाद के अन्य स्थान जो ग्रन्थों में वर्णित हैं व्यर्थ साबित होंगे । अतः नाद (स्वरात्मक व वर्णात्मक) का मुख्य स्थान कण्ठ है । शेष सभी उसके कण्ठ के सहयोगी स्थान कहे जा सकते हैं ।

तार, मध्य, मन्द्र इत्यादि के लिये जो शिर, कण्ठ, उर इत्यादि स्थानों की चर्चा प्राप्त होती है उसका अनुभूति परक कारण यह है कि मन्द्र-स्थानीय नादोत्पादन में उर पर दबाव पड़ता हुआ प्रतीत होता है जबकि मध्यतारता के नादोत्पादन में कण्ठ पर और तार स्वरों के उत्पादन में शिर पर जोर पड़ता है ऐसा प्रत्येक संगीतकार (गायक) के लिये अनुभव सिद्ध है ।

- नादाध्याय -

विभिन्न ग्रन्थों में जो भिन्न-भिन्न स्थान नादोत्पादन के सन्दर्भ में वर्णित हुये हैं , वे मुख्यत: नाद की तीव्रता तथा तारता से सम्बन्धित हैं किन्तु संगीत की दृष्टि से नाद के गुण (quality) का भी विशेष महत्व है । विशेषकर वाद्य संगीत में तो नाद के गुण पर ही संगीत सौन्दर्यबोध की नींव रक्खी जा सकती है । उपर्युक्त ग्रन्थों में यद्यपि नाद के इस महत्वपूर्ण पक्ष का प्रत्यक्षत: अभाव जान पड़ता है किन्तु परोक्षत: इसकी चर्चा यत्र-तत्र देखी जा सकती है जिसका विचार आगामी किसी अध्याय में किया जायेगा। इस अध्याय के समापन में तो इतना निवेदन ही पर्याप्त है कि नाद (ध्वनि) चाहे वर्णात्मक हो या स्वरात्मक हो भाषा प्रधान हो या संगीत-प्रधान मूलत: एक ही है विशेषकर उत्पत्ति की दृष्टि से । अभिव्यक्ति की दृष्टि से भले ही उसे इन रूपों में रक्खा जाय, किन्तु दोनों में कोई तात्विक भेद नहीं है मात्र औपचारिक भेद होने से हम उन्हें वर्णात्मक स्वरात्मकादि संज्ञाओं से विभूषित कर देते हैं ।

- o -

- श्रुत्याध्याय -

नादाध्याय के उपरान्त संगीत की दृष्टि से श्रुति की चर्चा कर लेना प्रासांगिक प्रतीत होता है, क्योंकि नाद जिस प्रकार ध्वनि का पर्याय तथा पूरक है उसी प्रकार श्रुति स्वर का पूरकावयव है। पुनश्च स्वर के स्वरूप को भलीभांति जानने के लिये भी श्रुति का अध्ययन एवं विश्लेषण करना आवश्यक है, क्योंकि श्रुति ही अन्ततोगत्वा स्वररूपमें प्रतिष्ठित होती है ।

संगीत की दृष्टि से तो श्रुति की उपेक्षा की ही नहीं जा सकती। कारण कि श्रुति संगीतोपयोगी ध्वनि की मूल इकाई है , साथ ही साथ उनके परस्पर अन्तराल एवं क्रम व्यवस्था पर ही न केवल भारतीय संगीत का अपितु विश्व संगीत का प्रासाद प्रतिष्ठित है ।

'श्रुति' की व्युत्पत्ति -

श्रुति शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में शिक्षा तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थों में कोई उल्लेखनीय उल्लेख प्राप्त नहीं होता, किन्तु संगीत विषयक ग्रन्थों में इसकी चर्चा अत्याधिक व्यापक और विस्तृत रूप में हुई है उदाहरणार्थ मतंग ने कहा है -

"श्रु श्रवणे चास्य धातोः क्तिप्रत्ययसमुद्भवः ।।
श्रुतिशब्दः प्रसाध्योऽयं शब्दज्ञैर्भावसाधनः ।। १

श्रु धातु में क्ति प्रत्यय लगाने पर श्रुति शब्द का प्रसाध्य होता है ।

१- 'बृहद्देशी' श्लोक २६ पृ० २

- श्रुत्याध्याय -

भरत भाष्यकार ने भी सुनने के अर्थ में ही श्रुति की व्युत्पत्ति क्तिक प्रत्यय से बताकर लगभग उपर्युक्त मत का ही समर्थन किया है, किन्तु साथ ही ध्वनि शब्द का प्रयोग कर अपने वैशिष्ट्य को दर्शाया है ।

" श्रुतिः श्रूयत इत्येवं ध्वनिरेषोऽभिधीयते ।
श्रुणोतेः कर्म-विहिते प्रत्यये क्तिनि जायते ।।" [1]

' बृहददेवता ' ग्रन्थ में - 'श्रूयन्त इति श्रुतयः' [2] अर्थात जो सुनाई दे वह श्रुति है ।

सारंगदेव ने भी इसी प्रकार 'श्रवणाच्छ्रुतयो मताः' [3] कहकर बृहददेवता में वर्णित श्रुति की व्याख्या का अनुकरण किया है, किन्तु तार्किक दृष्टि से उपर्युक्त दोनों ही व्याख्यायें अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त जान पड़ती है। यदि श्रवणेन्द्रिय विषय अर्थात कर्ण ग्राह्य ध्वनि को ही श्रुति मान लिया जाय तो फिर सभी ध्वनियां जिनमें शोर इत्यादि भी शामिल है, श्रुति की परिधि में मान्य होंगे एवं च श्रुत्याश्रित होने से संगीत में शोर इत्यादि का समावेश भी हो जायेगा, जिससे संगीत का अस्तित्व ही प्रश्न चिन्हित हो जायगा। विशेषकर भारतीय शास्त्रीय संगीत जो ध्वनि माधुर्य एवं सामंजस्य पर आधारित होने का दावा करता है । पुनश्च यदि प्रत्येक श्रवण-योग्य ध्वनि श्रुति है तो फिर स्वर और श्रुति का भेद ही समाप्त हो जायगा और फलस्वरूप बारह के स्थान पर बाइस स्वरों का विधान करना होगा, क्योंकि श्रुति संख्या २२ जो सर्वविदित है ।

१- ' भरतभाष्य ' श्लोक ८२ पृ० ८६
२- ' बृहददेवता ' पृ०४
२- ' संगीतरत्नाकर ' -१ ३।८ पृ० ६७

- श्रुत्याध्याय -

उपर्युक्त दोनों शंकाओं मे से दूसरी का समाधान एक सीमा तक कल्लिनाथ ने अपनी टीका में देने का प्रयास किया है तथा अनुरणन इत्यादि के आधार पर स्वर और श्रुति की पृथक सत्ता सिद्ध करने का प्रयास किया है जिसका सारतत्व यह है कि - प्रथमाघातरूप दाणिक ध्वनि का नाम श्रुति है उसके अनन्तर उत्पन्न होने वाली अनुरणानात्मक (गूंजने वाली) दीर्घ ध्वनि स्वर है ।

" मारुताघाहत्यनन्तरोत्पन्न प्रथमक्षणवर्तिश्रविणमात्रयोग्य ध्वनेरेवे श्रुतित्वमिति । " १

सिंहभूपाल ने भी इसकी पुष्टि की है -

" प्रथमतन्त्र्यामाहतायां यो ध्वनिरनुरण शून्य उत्पद्यते स श्रुति: यस्तु ततोऽनन्तरमनुरणरूप: श्रुयते स स्वर: २

" संगीतराज " के प्रणेता कुम्भकर्ण ने श्रुतियों को स्वर का हेतु बताया है -

" त एव श्रुतयस्तत्र स्वराभिव्यक्तिहेतव: " ३

डा०प्रेमलता शर्मा ने इस सन्दर्भ में अपनी टीका में निम्नोक्त ध्यान देने योग्य बात कही है । उनके अनुसार श्रुति स्वर की अभिव्यक्तावस्था की सूचक है ।[३]

अतिसंक्षेप में श्रुति के विषय में यह कहा जा सकता है कि श्रुति श्रवणगोचर है, लघुमात्रिका है स्वरात्मक एवं स्वरावयव है, अनुरण से रहित तथा उत्पत्ति क्रम में स्वर से पूर्व है ।[५] इसीलिये शास्त्रज्ञों ने इसे गीत (संगीत)

- -

१- " संगीतरत्नाकर " १ कल्लिनाथ टीका पृ० ६७
२- " संगीतरत्नाकर " १ सिंहभूपाल टीका पृ० ८२
३- " संगीतराज " श्लोक ३१ पृ०७४
४- संगीतराज - इन्ट्रोडक्शन पृ० ११२
५-

अभिषेच कारक तथा नित्योपयोगी कहा है ।

> 'नित्यं गीतोपयोगित्वमभिज्ञेयत्वमप्युत ।
> लक्षविद्भिः समादिष्टम् पर्याप्तं श्रुतिलक्षम ।।[1]

शिक्षादि में श्रुति -

शिक्षादि ग्रन्थों में श्रुति सम्बन्धि चर्चा व्यवस्थित रूप में उपलब्ध नहीं है । 'श्रुति शब्द का प्रयोग कई सन्दर्भों में किया गया है । नारदीया शिक्षा में श्रुति सम्बन्धी जो अल्पोल्लेख है, वह व्युत्पत्तिपरक न होकर स्थितिपरक है । यथा- जिस प्रकार दही में घी एवं काष्ठ में अग्नि होता है उसीप्रकार स्वरगत श्रुति है, जो प्रयत्नपूर्वक ही उपलब्ध की जा सकती है ।

> 'यथा दधनि सर्पिःस्यात काष्ठस्थो वा यथाऽनलः ।
> प्रयत्नेनोपलभ्येत तद्वत् स्वरगता श्रुतिः ।। २

स्वरगता श्रुति को समझाने के लिये एवं च उसकी अवस्था का प्रत्यावलोकन कराने के लिये अत्यन्त मार्मिक उपमायें नारदीया शिक्षा में प्राप्य है । जिस प्रकार जल में मछलियों का मार्ग एवं आकाश में पक्षियों का मार्ग उपलब्ध नहीं होता है उसी प्रकार स्वरों में निहित श्रुतियों की स्थिति है ।

> 'यथाप्सु चरतां मार्गो मीनानां नोपलभ्यते ।
> आकाशे वा विहंगानां तद्वत् स्वरगताश्रुतिः।। ३

जल के मध्य मछलियों का एवं आकाश के मध्य पक्षियों के मार्ग की अनुपलब्धि का यह अर्थ नहीं है कि उनमें गत्याभाव है, प्रत्युत् उसका

१- 'दी म्युजिक आफ इण्डिया' पृ० ६ से उद्धृत

२- 'नारदीया शिक्षा - १।६।१७

३- 'ना०शि० - वही - १।६।१६

- श्रुत्याध्याय -

यही अर्थ है कि उसकी प्राप्ति अत्याधिक श्रमसाध्य है ।

- नारदीया शिक्षा के निम्नलिखित श्लोकों में श्रुति संज्ञा वैदिक स्वर के अर्थ में प्रयुक्त प्रतीत होती है ।

'उच्चनीचस्य यन्मध्ये साधारणमिति श्रुति: ।' १

-- -- -- -- -- -- -- -- --

'अर्क्केष्वकेव सुतेष्वेवैव यज्ञेषु कलशेषु च ।
शतेषु स पवित्रेषु नीचादुच्चार्यते श्रुति: ।। २

इसी प्रकार १।७।६-१८ में दीप्तायता इत्यादि श्रुतिजाति के सन्दर्भ में प्रयुक्त श्रुतिसंज्ञा सामिक स्वरोच्चार क्रिया से सम्बन्धित प्रतीत होती है, जिसका उल्लेख श्रुतिजाति के प्रसंग में आगे आगे किया जायगा ।

गायन के दशविध गुणों के प्रसंग में -

'पूर्ण नाम स्वरश्रुतिपूर्णाच्छन्द: पादाक्षर संयोगात् पूर्णमित्युच्यते ।' ३

के द्वारा 'पूर्ण' की व्याख्या की गई है । जहां श्रुति शब्द ध्वनि के सामान्य अर्थ में प्रयुक्त जान पड़ता है । इस प्रकार नारदीया शिक्षा में श्रुति शब्द एकार्थक न होकर अनेकार्थक है जैसा कि उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है ।

प्रातिशाख्यों में श्रुति की चर्चा वैदिक दृष्टिकोण से की गई है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में 'श्रुति' को ध्वनि के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है ।

'श्रुतिर्वा यमेन मुख्यास्ति समानकाला । ४

१- नारदीया शिक्षा १।८।७
२- ना०शि० २।३।३
३- ना०शि० १।३।२
४- ऋग्वेद प्रातिशाख्य ६।३३ पृ० ४१३

- श्रुत्याध्याय -

पाणिनि ने श्रुति शब्द स्वर के सामान्य अर्थ में प्रयुक्त किया है । [१]

संगीत के दृष्टिकोण से श्रुतियों की व्याख्या का शिक्षा एवं प्रातिशाख्य ग्रन्थों में प्राय: अभाव सा जान पड़ता है। सम्भव है कि श्रुति सम्बन्धी संगीतपरक चिन्तन शिक्षा तथा प्रातिशाख्यों के बाद का हो, अथवा उनके लिये श्रुतियोंका वह महत्व न रहा हो जो परवर्ती लेखकों में है । संगीत-परक श्रुति चर्चा का अभाव होते हुये भी वैदिक संगीत के दृष्टिकोण से श्रुति का उल्लेख नारद ने किया है ।

श्रुतिसंख्या -

भरत ने एक ग्राम के अन्तर्गत २२ श्रुतियां बताई है। सारंगदेव इत्यादि परवर्ती आचार्यों ने भी २२ श्रुतिसंख्या ही मानी है ।

'अत्राश्रिता द्वाविंशतिश्रुतय: स्वरमण्डलसाधिता: । [२]

बाईस श्रुतियों के नाम इस प्रकार है - तीव्रा, कुमुद्वती, मन्दा, छन्दोवती, दयावती, रंजनी , रक्तिका, रौद्री, क्रोधा, वज्री प्रसारिणि, प्रीति, मार्जनी, क्षिति, रक्ता, सन्दीपनी, अलापिनी, मदन्ती, रोहिणि रम्या, उग्रा, क्षोभिणी ।

'तीव्रा कुमुद्वती मन्दा छन्दोवत्यपरा स्मृता।
तथा दयावती प्रोक्ता रंजनी रतिका, तथा।।

रौद्री क्रोधा तथा वज्री, ततश्चैव प्रसारिणी।
प्रीतिश्च मार्जनी चैव क्षिती रक्ता तत: पुन :

तथा सन्दीपनी प्रोक्ता ~~[illegible]~~ (आलापिनी)ऽलापिनीति च।
मदन्ती रोहिणी रम्या तथोग्रा क्षोभिणि ह्यपि ।।[३]

१- 'पाणिनि अष्टाध्यायी (सिद्धान्त कौमुदी) १।२।३३
२- 'नाट्यशास्त्र' पृ०१५
३- 'भरतभाष्य' ३।६३-६५ पृ० ६६

- श्रुत्याध्याय -

भरत तथा सारंगदेव इत्यादि ने षड्ज तथा मध्यम दो ग्रामों का उल्लेख किया है । इन ग्रामों में बाईस-बाईस का विधान है । किन्तु नारदीया शिक्षा में षड्ज मध्यम गान्धार इन तीन ग्रामों का उल्लेख है किन्तु ग्रामों के सन्दर्भ में श्रुतियों का उल्लेख नहीं है ।

" षड्ज-मध्यम-गान्धारास्त्रयो ग्रामा: प्रकीर्तिता: । "[1]

नारदीया शिक्षा के अतिरिक्त अन्य शिक्षा तथा प्रातिशाख्यों में ग्राम व श्रुतिसंख्या का उल्लेख नहीं है । नारदीया शिक्षा में आचार्य सम्बन्धी विवेचन करते हुए , दीप्ता, आयता, करुणा, मृदु मध्या पांच श्रुतियां ही बताई गई हैं ।

" दीप्तायता करुणानां मृदुमध्यमयोस्तथा ।
श्रुतीनां योऽविशेषज्ञो न स आचार्य उच्यते ।। "[2]

इस सम्बन्ध में टीकाकार शोभाकार का कथन है कि उक्त नैपुण्य धारण न करने वाला आचार्य न केवल प्रत्यवाय को प्राप्त होता है , अपितु दूसरों को भी तद्युक्त करता है ।[3] इन पांच श्रुतियों के नाम बाद के संगीतज्ञों ने श्रुतिजाति के रूप में कहा है ।

" दीप्ता अयता च करुणा मृदुर्मध्येति जातय :
श्रुतिनां पंच तासां च स्वरेष्वेवं व्यवस्थिति: ।।[4]

अत: स्पष्ट है कि इन सामिक श्रुतियों को परिवर्तन बाद में श्रुतिजाति के रूप में हुआ। जैसाकि देसाई जी के वचन से स्पष्ट है -

---

१- ना०शि० १।२।६
२- ना०शि० १।७।६
३- ना०शि० - वही - टीका
४- स०र० १ ३।२७-२८

- श्रुत्याध्याय -

सामयुग के पश्चात् संगीत शास्त्रकारों ने सामिक श्रुतियों को श्रुति-जाति में परिवर्तित किया ।[1]

सामिक श्रुतियां पांच ही थी इसका उल्लेख देसाईजी ने भी किया है । 'स्वरोच्चास्वरूप दीप्तादि' पांच श्रुतियों का ही प्रयोग अभीष्ट था, अत: श्रुतियों की संख्या पांच ही थी ।[2]

नान्यदेव ने पांच श्रुतियों को ग्रामों में जाननाचाहिये ऐसा स्पष्ट किया है ।

दीप्ता यता च करुण मृदु-मध्येति नामत: ।
पंच्चैव श्रुतय: प्रोक्ता, ज्ञेया ग्रामेषु नित्यश: ।।[3]

कला और काल के प्रमाण से इन पांच श्रुतियों के बाईस विभेद व्याख्यातित हुए हैं । ये तथ्य नान्यदेव के निम्नलिखित वचन से स्पष्ट हैं ।

पंच्चैवा: कला-काल-प्रमाणेन विभेदिता द्वाविंशतिरिति व्याख्याता ।।[4]

श्रुतियों की संख्या बाईस मानने का कारण योग तथा आयुर्वेद शास्त्रों का प्रभाव है ।[5]

तस्य द्वाविंशतिभेदा: श्रवणात श्रुतयोमता: ।
हृदभ्यंतरसंलग्ना नाड्यो द्वाविंशतिर्मता: ।।[6]

१- 'भरतभाष्य' पृ० ६८
२- 'भरतभाष्य १ पृ०६७
३- 'भरतभाष्य १ पृ० ३।८३
४- 'भरतभाष्य १ पृ० ३।६२
५- 'संगीतशास्त्र' पृ० १०
६- 'स्वरमेलकलानिधि - पृ० १४

- श्रुत्यध्याय -

आयुर्वेद के ग्रन्थों में हृदय, कण्ठ, तथा मूर्धा में बाईस-बाईस नाड़ियों का उल्लेख है , जिस कारण इन्ही त्रिस्थानों से उत्पन्न ध्वनियों को बाईस-बाईस श्रुतियों की संज्ञा दी गई है ।

तस्य द्वविंशतिर्भेदा: श्रवणाच्छ्रुतयो मता: ।
हृद्युर्ध्वनाड़ी संलग्ना नाड्यो द्वविंशतिर्मता: ।।१

जो त्रिस्थानीय है तथा जिन्हें क्रमश: मन्द, मध्य तार के नाम से जाना जाता है। इन तीनों को क्रम पुष्ट और अपुष्ट नाम दिया गया है ।

श्रूयन्त इतिवा कर्मसाधनोऽयमि हेष्यताम् ।
श्लिष्टो: सुषुम्णाया नाड्यो हृदि द्वविंशति: स्थिता: ।।२

एक सप्तक के अन्तर्गत २२ श्रुतियों का समावेश केवल गणितीय महत्व का सूचक नहीं है अपितु उसमें ध्वनिशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र के सिद्धान्त निहित हैं । यों तो एक सप्तक में अनन्त ध्वनियां होती है यथा -

केशाग्रव्यवधानेन बह्योऽपि श्रुतय: श्रिता: ।
वीणायां च तथा गात्रे संगीतधानिनां मते ।। ३

कोहल के अनुसार - कुछ लोग २२ , कुछ लोग ६६ कुछ लोग अनन्त श्रुति मानते हैं ।

द्वविंशतिं केचिदुदाहरन्ति श्रुती: श्रुतिधानविचक्षणा: ।
षट्षष्टिभिन्ना: खलु केचिदासामानन्त्यमन्ये प्रतिपादयन्ति।।४

१- सं०र० १ ३।८ पृ० ६७
२- 'संगीतराज' १ पृ० ७४ श्लोक ३०
३- 'संगीतपारिजात' श्लोक ४० पृ०-१३
४ - स०र० १ ३। सिंहभूपाल टीका पृ०-६८

- श्रुत्यध्याय -

तरंगों की परम्परा के दृष्टान्त से श्रुतियों के आनन्त्य को कोहल ने निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया है ।

" आनन्त्यं हि श्रुतिनां च सूचयन्ति विपश्चितः ।
यथा ध्वनिविशेषाणामानन्त्यं गगनोदरे ।।
उत्ताल पवनोद्वेलजलराशिसमुद्भवाः ।
इयत्ता प्रतिपद्यन्ते न तरंगपरम्परा ।। [१]

यद्यपि उपर्युक्तमतों से अनन्त ध्वनियां होना स्पष्ट है किन्तु अधिक से अधिक बाईस ही ऐसी ध्वनियां हो सकती है, जिन्हें मानवकर्ण द्वारा सहज रूप से एक दूसरे से पृथक-पृथक जाना जा सकता है । अतः व्यवहार में बाईस श्रुतियां ही प्रसिद्ध हैं -

" द्वाविंशतिश्रुतीनां च व्यवहार प्रसिद्धये ।
तासां नामानि वक्ष्येऽहं नारदीयानुसारतः ।।[२]

` संगीतपारिजात` के उपर्युक्त में नारदीयानुसार बाईस श्रुतियों के प्रसिद्ध होने का उल्लेख है, किन्तु नारदीया शिक्षा में यह प्राप्त नहीं होता। अतः या तो तत्सम्बन्धी अंशअप्राप्य है , अथवा किसी अन्य नारदीय ग्रन्थ का उल्लेख हुआ है।

मतंग` एक श्रुति` मत के प्रतिपादक हैं । उनके अनुसार -

" श्रुयन्त इति श्रुतय । सा चैकानेका वा । तत्रैकैव श्रुतिरिति ।
.... इति मानकीयं मतम् ।। [३]

मतंग द्वारा प्रस्तुत विश्वावसु के मत में दो प्रकार` की श्रुतियां बताई गई है।
१- स्वरगता   २- स्वरान्तरगता ।

१- स०र० कल्लिनाथ टीका पृ०७२
२- संगीतपारिजात - श्लोक ४२ पृ० १३
३- बृहद्देशी - पृ० २
४- - वही -

- श्रुत्यध्याय -

.... सा चैकापि द्विधा ज्ञेया स्वरान्तरविभागतः ।[१]

कुछ लोग यन्द्रिय वैगुण्य के कारण - सहज, दोषज तथा अभिघातज तीन- श्रुति प्रकार बताते हैं ।

" इन्द्रियवैगुण्यं च त्रिविधं - सहजं दोषजम् अभिघातजं चेति ।[२]

कुछ लोग वातज्र पितज्र, कफज एवं इन तीनों के गुण से युक्त सन्निपातज चार प्रकार श्रुति के बताते हैं -

" अपरे तु वातपित्तकफसन्निपातभेदभिन्नां चतुर्विधां श्रुति प्रतिपेदिरे[३]

" उच्चैस्तरो.................. सन्निपातजः ।[४]

मतंग के अनुसार -

" अपरे....... न्वादयो नवधा श्रुतिं प्रतिपद्यन्ते ।।[५]

उपर्युक्त विवेचनानुसार श्रुति एक दो, तीन, चार , पांच (ना०शि०) सात (स्वरगता) नव २२ तथा अनन्त है । अतः स्पष्ट है कि -" प्राचीन - ग्रन्थकारों में श्रुतिसंख्या के विषय में मतभिन्नता थी तथा अनेक मत प्रचलित थे।"[६] व्यवहार के अतिरिक्त संवाद सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न अन्तरालों द्वारा अधिक से अधिक २२ ध्वनियां ही रंजक हो सकती हैं । सामान्य व्यक्ति के लिये तो सात अथवा बारह पृथक ध्वनियों का ज्ञान कर पाना कठिन है किन्तु संगीतकारों के प्रशिक्षित कान २२ ध्वनियों तक का पृथकीकरण एक सप्तक के अन्तर्गत करने में समर्थ हो सकते हैं , इसलिये प्राचीन भारतीय आचार्यों ने श्रुति - संख्या बाईस ही मानी है।

१- बृहद्देशी पृ० २
२- -वही-
३- -वही-
४- -वही-
५- बृहद्देशी से उद्धृत पृ० २
६- बृहद्देशी- श्लोक २७ पृ०२

- श्रुत्याध्याय -

पाश्चात्य संगीतशास्त्रियों ने एक सप्तक के अन्तर्गत १२ स्वर का निर्धारण तो किया है किन्तु सूक्ष्म स्वर अर्थात् श्रुतियों के निर्धारण में वे अधिक तार्किक नहीं जान पड़ते । यद्यपि पाइथागोरस जैसे - प्राचीन यूनानी संगीत मर्मज्ञ एक सप्तक के अन्तर्गत सूक्ष्म ध्वनियां ५५ तक बतलाते हैं तथा परवर्ती विद्वान २४ सूक्ष्म ध्वनियों का उल्लेख करते हैं जो बाईस श्रुतियों के निकट ही है । किन्तुउनके इस श्रुति निर्धारण में वैसा वैज्ञानिक दृष्टिकोणा न्हीं है, जैसा कि भारतोय आचार्यों का रहा है ।

श्रुति-स्वर सम्बन्ध -

बाईस श्रुतियाँ तथा उन पर प्रतिष्ठित बारह स्वर मूलत: नाद ही है । अत: इन दोनों (श्रुति-स्वर) की भिन्न संज्ञाओं के विषय में जिज्ञासा होना स्वाभाविक हं । अत: एक प्रश्न सहज रूप से ही उपस्थित होता है कि श्रुतियाँ और स्वर में क्या भेद है ? जबकि दोनों एक ही तत्वाश्रित यानि ध्वनि रूप हैं । स्वर क्या श्रुति ही हैं ? अथवा श्रुतियाँ ही क्या स्वर हैं ? इन दोनों के पारस्परिक अन्तर तथा सम्बन्ध को समझने के लिये निम्नलिखित विवेचन आवश्यक है। श्रुति ध्वनि की वह अवस्था या स्थिति है जो श्रवणेन्द्रिय का प्रथम विषय बनती है। तदोपरान्त स्निग्धता अनुरणन इत्यादि का अभाव कहा गया है । जबकि स्वरों में इन विशेषताओं का समावेश माना जाता है।-

'श्रुत्यनन्तरभावी य: स्निग्धोऽनुरणतात्मक: ।' १

श्रुति और स्वर एक ही तत्व होते हुये भी एक विशिष्ट दृष्टि से पृथकत्व धारण किये हुए माने जाते हैं । जिस प्रकार मृतिका और उससे बने

१- स०र० १ ३।२४ पृ० ८२

हुए माण्डों (बर्तनों) का उपादान एक होते हुये भी दोनों में भेद है , अथवा जिस प्रकार स्वर्ण तथा स्वर्ण से निर्मित आभूषणों के भेद है उसी प्रकार श्रुति और स्वर के विषय में भी समझा जा सकता है। संगीत रत्नाकर के टीकाकार सिंहभूपाल ने स्वर और श्रुति के इसी तात्विक अभेद को वीचितरंग न्याय से स्पष्ट किया है -

" वीचितरंगन्यायेनोत्पद्यमानानां तेषामुतिप्रक्रमभागकल्प
नया.......... ।। "[1]

न्याय दर्शन में उपर्युक्त न्याय से ककारादि वर्णों की उत्पत्ति मानी जाती है ।[2] जिस प्रकार जल की तरंगे एक के बाद एक तारतम्य के साथ उठा करती है, उसी प्रकार श्रुति और स्वर के तारतम्य और तादातम्य को दर्शाया गया है ।

श्रुति और स्वर का अविर्भाव क्रमशः ही होता है श्रुति के अनन्तर हो स्वर का अस्तित्व होता है । इन दोनों में भले ही असंलक्षित क्रम हो किन्तु है अवश्य । जिस प्रकार सौ कमल के पत्तों में सूचिका द्वारा छिद्र करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो एक साथ ही सभी पत्रों में छिद्र हो हो गये हों किन्तु वैसा होता नहीं है । हो भी नहीं सकता क्योंकि एक पत्र के छेदने के बाद ही द्वितीय पत्र छेदन सम्भव है। पण्डित अहोबल ने स्वर और श्रुति के भेद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार सर्प और उसकी कुण्डली अभिन्न है, उसी प्रकार ये दोनों भी ।

" श्रुतयः स्युः स्वराभिन्नाः श्रावणत्वेन हेतुना ।
अहि कुण्डलवत्तत्र भेदोक्ति शास्त्रसम्मता ।। "[3]

१-स०र० १ सि
२-संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ पृ०१३५०
३-संगीतपारिजात श्लोक ३८ पृ० १२

- श्रुत्याध्याय -

सिंहभूपाल ने स्वर और श्रुति के मध्य स्थित भेदाभेद को दर्शाने के लिये निम्नलिखित दार्शनिक सिद्धान्तों का उल्लेख किया है । जिन्हें उनके समय में विभिन्न विद्वानों द्वारा मान्यता मिली तथा इससे यह भी संकेत मिलता है कि भारतीय संगीत के विकास में दार्शनिक चिन्तन का प्रभाव अनवरत् रूप से विद्यमान रहता है । श्रुति-स्वर के बीच कतिपय लोगों ने तादात्म्य सम्बन्ध माना, जिस प्रकार व्यक्ति और जाति अथवा अंग और अंगों के बीच रहता है

कुछ लोग स्वर को श्रुति का विवर्त स्वीकार करते हैं और दोनों के मध्य बिम्ब प्रतिबिम्ब सम्बन्ध मानते हैं ।

अन्य लोग स्वर को श्रुति का विवर्त स्वीकार करते हैं तथा दोनों के मध्य बिम्ब प्रतिबिम्ब सम्बन्ध मानते हैं ।

कतिपय लोग स्वर और श्रुति के मध्य कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करते हैं, जिस प्रकार मिट्टी और घट के बीच होता है ।

कुछ मर्मज्ञों ने उपर्युक्त दोनों में परिणामवाद की चर्चा की है, और स्वर को श्रुति का परिणाम उसी प्रकार बताया है जिस प्रकार दही, दूध का परिणाम है ।

अन्तिम रूप से प्रस्तुत सन्दर्भ में अभिव्यक्तिवाद का उल्लेख मिलता है , जिसके अनुसार स्वर श्रुतियों की अभिव्यक्ति मात्र हैं । यह मत मूलत: कश्मीरी शैवों (अभिनवगुप्त) का है जिसके अनुसार वस्तु की उत्पत्ति या अनुमति नहीं होती प्रत्युत अभिव्यक्ति होती है। कमरे में रक्खी मेज अन्धकार में ज्ञात नहीं होती किन्तु प्रकाश का अविर्भाव होते ही कमरे में रक्खी मेज ज्ञान का विषय बन जाती है। अत: प्रकाश न तो मेज उत्पन्न करता है और न मेज उसका परिणाम ही है प्रत्युत प्रकाश द्वारा मेज का प्रकटीकरण अर्थात अभिव्यक्ति की जाती है, ऐसा ही स्वर और श्रुति के विषय में भी समझना चाहिये ।

- श्रुत्यध्याय -

१- जातिव्यक्ति सम्बन्ध -

' विशेषस्पर्शशून्यत्वच्छ्रवणेन्द्रियगम्ययोः ।
स्वरश्रुत्योस्तु तादात्म्यं जातिव्यक्त्योरिवान्योः ।।

२- विवर्तवाद -

' नराणां तु मुखं यद्वद्दर्पणेषु विवर्तते ।
प्रतिभान्ति स्वरास्तद्वच्छ्रुतिष्वेव विवर्तितः ।।'

३- कार्य कारण सम्बन्ध -

' स्वराणां श्रुतिकार्यत्वमिति केचिद्वदन्ति हि ।
।।
मृत्पिण्डदण्डकार्यत्वं घटस्येह यथा भवेत् ।।

४- परिणामवाद -

' श्रुतयः स्वररूपेण परिणामं व्रजन्ति हि।
परीणामेद्यथा क्षीरं दधिरूपेण सर्वथा।।'

५- अभिव्यक्तिवाद-

' षड्जादयः स्वराः सप्त व्यज्यन्ते श्रुतिभिसदा।
अन्धकारस्थिति यद्वत्पदीपेन घटादयः ।।' १

किन्तु इन पक्षों में परिणाम एवं अभिव्यक्ति पक्ष को मतंग ने निम्नलिखित शब्दों में महत्त्व दिया है ।

१- स०र०से उद्धृत पृ०८३

- श्रुत्याध्याय -

' तादात्म्यं च विवर्तत्वं कार्यत्वं परिणामिता ।
अभिव्यंजकता चापि श्रुतीनां परिकथ्यते ।।

- - - - - - - - - - - - - - - - - -

परिणामोऽभिव्यक्तिस्तु (नारीन्या) य: पदा:संतामत:
इति तावन्मया प्रोक्तं तादात्म्यादिविकल्पनम् ।। [१]

उपर्युक्त मत सत्कार्यवाद का परिचायक है जिसके अनुसार कार्य और कारण दोनों की सत्ता निर्विवाद है । ' कार्य ' वस्तुत: कारण में वर्तमान है, अर्थात कारण व्यापार के पूर्व , कार्य, कारण में अव्यक्त रूप में रहता है। कार्य की उत्पत्ति और नाश का अर्थ उस विषय की सत्ता का होना तथा न होना नहीं है। कारण (श्रुति) से कार्य (स्वर) की उत्पत्ति का अर्थ है अव्यक्त से व्यक्त होना तथा कार्य के नाश का अर्थ है व्यक्त से अव्यक्त होना। यह भी एक प्रकार का परिणाम है जिसके कारण अव्यक्त मूला अर्थात् श्रुति के अव्यक्त रूप में वर्तमान स्वर व्यक्त हो जाते हैं । सत्कार्यवाद के अनुसार - न किसी की उत्पत्ति होती है और न किसी का नाश होता है । अर्थात् न तो श्रुति से स्वर की उत्पत्ति होती है और न स्वर से श्रुति नष्ट होती है । वस्तुत: उत्पत्ति और नाश दोनों ही एक धर्म को छोड़कर दूसरे धर्म का ग्रहण करना है । संक्षेप में सत्कार्यवाद का तात्पर्य यह है कि केवल स्वरूप परिवर्तन का विषय है वस्तु नहीं । इस मतानुसार भी यद्यपि कारण से कार्य अर्थात् श्रुति से स्वर पृथक जान पड़ता है किन्तु दोनों के नाम ही भिन्न हैं, वस्तुत: कारण से कार्य भिन्न नहीं है । कार्य अपने कारण में ही रहता है, भेद है धर्म का । अत: यह सिद्धान्त है भेद सहिष्णु अभेदवादी है । जिसका सिद्धान्त है -

' नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत: । ' [२]

- -

१- बृहद्देशी ३१-४५ पृ० ४
२- भगवद्गीता २।१६

अर्थात् असत् से सत् नहीं होता और सत का अभाव नहीं होता ।

ईश्वर कृष्ण ने सांख्यकारिका में सत्कार्यवाद को जो सांख्य का सिद्धान्त है, को सिद्ध करने के लिये निम्नलिखित युक्तियां दी हैं ।

१- असद्कारणात् २- उपादान ग्रहणात्
३- सर्वसम्भवाभावात् ४- शक्तस्यं शक्यकरणात्
५- कारणभावात् ।[१]

किन्तु इनकी विस्तृत चर्चा करने का यहां पर न तो पर्याप्त अवकाश है और न ही आवश्यकता ।

नारदीया शिक्षा का श्रुति स्वर सम्बन्धी दृष्टिकोण भी सत्कार्यवादी ही है। क्योंकि जिस प्रकार कार्य अपने कारण में अनभिव्यक्त रूप से निहित रहता है। उसी प्रकार स्वर में श्रुति प्रच्छन्न है । नारद ने तो स्वर और श्रुति के प्रसंग में यह कहा है कि -

" यथा दधनि सर्पि: स्यात् काष्ठस्थो वा यथाऽनलः
प्रयत्नेनोपलभ्यते तद्वत् स्वरगता श्रुति : ।। "[२]

अर्थात् जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि तथा दधि में घृत विद्यमान है, उसी प्रकार स्वर में श्रुति है । उपर्युक्त तथ्य अत्यन्त महत्व का है । क्योंकि स्वर श्रुति से भिन्न कोई पृथक वस्तु नहीं है , प्रत्युत एक ही नाद के दो रूप हैं । यद्यपि उन्हें प्राप्त करना कठिन है, किन्तु यह काठिन्य सत्कार्यवाद के मौलिक सिद्धान्त को भंग नहीं करता । पुनश्च यदि स्वर में पहले से ही श्रुति की स्थिति न मानी जाय तो फिर उसकी प्राप्ति कैसे सम्भव होगी

१- सांख्यकारिका श्लोक ९
२- ना० शि० १।६।१७

और यदि श्रुति स्वर में प्राप्त होती है तो उसका पहले से ही अस्तित्व रहा है ऐसा मानना होगा । एक और ध्यान देने की बात यह है कि -` स्वरगता श्रुति:` कहा गया है श्रुतिगता स्वर नहीं । अत: प्रश्न उठता है कि क्या स्वर का अस्तित्व श्रुति से पूर्व है और वह श्रुति का कारण है,अथवा श्रुति स्वर से पूर्व है और स्वर उसका परिणाम है। दोनों ही दृष्टिकोण अपनी-अपनी जगह ठीक हैं । क्योंकि अभिव्यक्ति क्रम में श्रुति स्वर से पूर्व है और श्रुति ही तदनन्तर स्वर रूप में प्रतिष्ठित होती है। ` श्रुत्यनन्तरभावी ` किन्तु प्रतिभिज्ञा क्रम में स्वर श्रुति से पूर्व है तथा व्यवहार में स्वर की श्रुतियां कही जाती हैं । श्रुतियों का स्वर नहीं ।

पूर्वलिखित स्वर और श्रुति के सम्बन्ध विषयक विवेचन का सारांश यही है कि एक सप्तक के अन्तर्गत बाईस विशिष्ट ध्वनियां श्रुति हैं , और वे श्रुतियां ही अवस्था विशेष में स्वर के रूप में अभिव्यक्त होती हैं । स्वर और श्रुति के मध्य कार्य-कारण भाव विद्यमान है यद्यपि उनके परस्पर` सम्बन्ध - प्रकार` को लेकर मतभेद पाये जाते हैं ।

श्रुति-स्वर-व्यवस्था -

सप्तक के अन्तर्गत बाईस संगीतोपयोगी ध्वनियों (श्रुतियों) को निम्नलिखित संगीत के सात स्वरों में विभाजित करने का प्रयास भरत के समय से ही देखा जा सकता है। क्योंकि स्वरों की संख्या एक सप्तक के अन्तर्गत सात हो जाने के कारण उनकी श्रुतियों का निर्धारण भी आवश्यक हो गया । क्योंकि श्रुतियों की स्वर में निहित संख्या तथा उनके तारतामान (Pitch Value) पर ही स्वरों के परस्पर अन्तराल का निर्धारण सम्भव है ।

- श्रुत्यध्याय -

वैदिक काल में एक सप्तक में स्वरों की संख्या अपेक्षाकृत कम होने के कारण स्वर-श्रुति विभाजन की आवश्यकता तार्किक रूप से अनुभव नहीं की गयी तथा स्वरों के विकृत रूप अर्थात् कोमल तीव्र इत्यादि या तो उस काल में प्रचलित नहीं थे अथवा उनका ध्वनि वैज्ञानिक (Ecoustical) दृष्टि से सूक्ष्म विश्लेषण नहीं किया गया होगा, जैसा कि परवर्ती संगीत ग्रन्थों में उपलब्ध होता है । अतः ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि श्रुति-स्वर विभाजन की आवश्यकता वैदिक काल के उपरान्त ही अनुभव की गई होगी । यह बात इस दृष्टि से भी समझी जा सकती है कि वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय संगीत (स्वर, ताल, पद इत्यादि) नहीं है , अपितु धर्म है । -

" धर्म का प्रतिपादन मुख्यतया वेदों में ही किया गया है ।"[१]

मीमांसा दर्शन जो वेदवाक्यों का विश्लेषण करता है, का भी यही अभिमत जान पड़ता है। क्योंकि मीमांसकों के प्रथम सूत्र में ही धर्म की जिज्ञासा की गई है -

" अथातो धर्मजिज्ञासा । "[२]

संगीत सम्बन्धी ग्रन्थों में वर्णित स्वर-श्रुति विभाजन को देखने से पूर्व इस विषय में शिक्षा ग्रन्थों पर भी दृष्टिपात कर लेना उपयोगी है। अन्य शिक्षाओं में तो, जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है प्रस्तुत प्रसंग के दृष्टिकोण से श्रुति विवेचन का प्रायः अभाव है, किन्तु नारदीया शिक्षा में

१- धर्म और दर्शन - पृ० ४

२- जैमिनि मीमांसा सूत्र १।१

- श्रुत्याध्याय -

एकाध ऐसे स्थल हैं जहां उक्त विषय का संकेत ग्रहण किया जा सकता है - उदाहरणार्थ -

"उच्चनीचस्य यन्मध्ये साधारणमिति श्रुति:" १

अर्थात उच्च तथा निम्न स्वरों के मध्य में स्थित श्रुति है। जिसका अर्थ यह हुआ कि षड्ज एवं ऋषभ इत्यादि के अतिरिक्त, अन्य मध्यवर्ती स्वर श्रुति-रूप में है। किन्तु उनके पृथक नाम नहीं दिये गये हैं तथा सात से बढ़कर जहां द्वादश स्वरविधान मान्य है वहां भी सात के अतिरिक्त शेष पांच स्वरों को उन्हीं सात स्वरों की संज्ञा प्रदान की गयी है। केवल उनका वैशिष्ट्य दर्शाने के लिये उनमें कोमल, तीव्र इत्यादि शब्द जोड़ दिये गये हैं। अत: सातों स्वरों का विस्तार एक से अधिक ध्वनियों वाला है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक स्वर में एक से अधिक श्रुतियां है।

उपर्युक्त श्लोकमें शिक्षाकार ने "साधारण" संज्ञा का जो प्रयोग किया है, वह भी महत्व का है, क्योंकि स्वर के श्रुतिविस्तार को समझाने के लिये अर्थात स्वर की स्वरगत अन्य श्रुतियों पर स्थिति बताने के लिये "साधारण" शब्द का प्रयोग अन्य ग्रन्थकारों ने भी किया है। उदाहरण के लिये भरत ने अन्तर-काकली स्वरों को साधारण की संज्ञा दी है।

"तत्र साधारणं नामान्तरस्वरता, कस्मात द्वयोरन्तरे
भवति यत्रत्साधारणम्........... स्वरसाधारणं
काकल्यन्तरस्वरौ।" २

तत्पश्चात् रत्नाकर ने अन्य विकृत स्वरों हेतु "साधारण" संज्ञा का उपयोग किया।

१- ना०शि० - १।८।७
२- ना०शा०अ० २८ पृ०-३१-३२

- श्रुत्यध्याय -

' साधारणो काकली त्वे निषादस्य च दृश्यते ।
.... विकृतो भवेत् ।। १

इस प्रकार ' साधारण ' संज्ञा का उद्गम वैदिक स्वर संज्ञाओं के अनुरूप है । उपर्युक्त श्लोक में श्रुति शब्द स्वर के अर्थ में प्रयुक्त है । पाणिनि के ' एकश्रुतिदूरात्सम्बुद्धौ ' इस सूत्र में श्रुति का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है । देसाईजी के अनुसार -

' सांगीतिक श्रुतियों का मूल भी सामवैदिक स्वरों में ही रहा है, ऐसा प्रतीत होता है ।। २

नारदीया शिक्षा में कृष्ट की करूणा द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र, अतिस्वार्य की श्रुति दीप्ता बताई गयी है । ट

' दीप्ता मन्द्रे द्वितीये च प्र चतुर्थे तथैव तु ।
अतिस्वारे तृतीये च कुष्टेतु करूणाश्रुतिः ।। ३

उपर्युक्त श्लोक में प्रथम स्वर की श्रुति नहीं बतायी गयी है । किन्तु शोभाकर भट्ट ने टीका में सातों स्वरों की श्रुतियां स्पष्ट की है तथा प्रथम स्वर की श्रुति मृदु बतायी है ।

' पंचानां स्वराणां दीप्ता श्रुतिः प्रथमस्य मृदुभूता सप्तमस्य करूणा ।। ' ४

उपर्युक्त श्रुति-स्वर व्यवस्था के अतिरिक्त नारदीया शिक्षा में द्वितीय स्वर की श्रुति उपाधि वशात मृदु, मध्या, आयता भी बतायी गयी है -

' श्रुतयोऽन्या द्वितीयस्य मृदुमध्यायताः स्मृताः । ५

१- सं०र० १ ३।४६-४१
२- म०ना० पृ० २८ सम्पादक टिप्पणि
३- ना०शि० १।७।१०
४- ना०शि०शोभाकर टीका १।७।१० पृ०४१
५- ना०शि० १।७।११

इनके अतिरिक्त उदात्तादि स्वरों में श्रुति-व्यवस्था नारदीया शिक्षानुसार निम्नलिखित है ।

" दीप्तामुदात्ते जानीयाद्दीप्तां च स्वरिते विदुः ।
आनुदात्ते, मृदुर्ज्ञेया गन्धर्वा श्रुतिसम्पदः । [१]

अर्थात् उदात्त की दीप्ता, स्वरित की दीप्ता तथा अनुदात्त की मृदु श्रुति है। उपर्युक्त को गान्धर्व की श्रुति बताई है - अर्थात् गान्धर्व जो साम से व्यतिरिक्त है, में दो श्रुतियां बताती है - किन्तु टीकाकार ने श्रुति के अभाव होने पर भी गान्धर्व गान में श्रुति के समान स्वर का उपयोग करना चाहिये , ऐसा स्पष्ट किया है ।

" गान्धर्वे गाने श्रुतेरभावेऽपि तत्सदृशः स्वरः कार्य इत्याह"। [१]

नारदीया शिक्षानुसार हृस्व-दीर्घ इत्यादि वर्णों में श्रुति न लेकर,श्रुति के समान स्वर ही लेना चाहिये । -

" स्वरान्तरा विरतानि हृस्वदीर्घप्लुतानि च।
श्रुतिस्थानेष्वशेषाणि श्रुतिवत् स्वरतो भवेत् ।। [२]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सामगायन में श्रुतियों का स्वर-रूप में भी प्रयोग किया जाता था। जैसा कि भरतभाष्य के टीकाकार ने भी स्पष्ट करते हुये कहा है ।

" साम-गायन में विशिष्ट स्वरोच्चार रूप दीप्तादि पांच श्रुतियों का ही प्रयोग अभीष्ट था ।।" [३]

इसके अतिरिक्त भरतभाष्यकार ने निषाद,गान्धार,मध्यम तथा षाड्ज स्वरों में दीप्ता तथा धैवत,ऋषभ,पंचम में करुणा श्रुति बतायी है।

१- ना०शि० १।७।१८
२- ना०शि० १।७।१७
३- भ०भा० टीका पृ०६७

भरतभाष्यकार के अनुसार मध्यम अर्थात् सामवैदिक प्रथम स्वर की श्रुति दीप्ता है, जबकि नारदीया शिक्षानुसार इसकी श्रुति मृदु है। अत: नारदीया शिक्षा में वर्णित श्रुतिस्वर-व्यवस्था भरतभाष्य के अनुकूल नहीं है। फिर भी भरतभाष्यकार ने उपर्युक्त श्रुति स्वर-व्यवस्था की प्रेरणा सम्भवत: नारदीया शिक्षा से ली होगी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

सांगीतिक बाईस श्रुतियोंका स्वरों में विभाजन -

सांगीतिक बाईस श्रुतियों का स्वरों में विभाजन निम्नलिखित है।

* चतु:श्रुतिर्भवेत षड्ज ऋषभस्त्रिश्रुति: स्मृत: ।
द्विश्रुतिश्चैव गान्धारो मध्यमश्च चतु: श्रुति: ।।

पंचमस्तद्वदेव स्यात् त्रिश्रुतिर्धैवतो मत:
द्विश्रुतिश्च निषाद: स्यात् षड्ज ग्रामे विधिर्भवेत ।। [१]

अर्थात षड्ज की चार, ऋषभ की तीन, गान्धार की दो मध्यम की चार पंचम की चार धैवत् की तीन निषाद् की दो श्रुतियां हैं। भरत ने श्रुतिसंख्या की दृष्टि से तीन प्रकार के स्वरों का विधान किया है। चतु:श्रुतिक स्वर, त्रिश्रुतिक स्वर, तथा द्विश्रुतिक स्वर। प्रथम में सा, म, प द्वितीय में रे ध और अंतिम में ग, नि हैं। यह बात उनके द्वारा वर्णित बासुरी में तीनों प्रकार के स्वर निकालने की विधि से ज्ञात होती है।

* द्विकस्त्रिकश्चतुष्को वा श्रुतिसंख्यो भवत् स्वर: ।
.... ।।[२]

१- भ०ना० २८।२५-२६
२- भ०ना० ३०।४-५

- श्रुत्यध्याय -

उपर्युक्त तीनों ही स्वरों का तारतामान ध्वनिविज्ञान की भाषा में क्रमश: ५१ सेवर्ट (९।८), ४६ सेवर्ट (१०।९) तथा २८ सेवर्ट (१६।१५) है जिन्हें पाश्चात्य संगीत की भाषा में मेजरटोन ,माइनरटोन तथा सेमीटोन कहा जाता है। ये तीनों ही स्वर संगीतोपयोगी है । इनमें से सबसे छोटे स्वर से भी छोटा स्वर गले से या यन्त्र से स्पष्ट निकाला जा सकता है , पर स्वतन्त्र रूप में ऐसे स्वर का संगीत में उपयोग नहीं होता। इस अनुपयुक्त फिर भी सुसाध्य, अणु स्वर के मान को यदि एक श्रुति मान ले तो अनायास ही संगीतोपयोगी लघुतम स्वर को दो श्रुति इससे बड़े स्वर को तीन श्रुति और सबसे बड़े स्वर को चार श्रुति मानना पड़ेगा। इसमें श्रुति के किसी निश्चित मान की स्वीकृति नहीं है । इस प्रकार जब स्वरों की - द्विश्रुतिक, त्रिश्रुतिक और चतु:श्रुतिक संज्ञायें निर्धारित हो जाती हैं तो एक सप्तक में २२ श्रुतियों का अस्तित्व सामान्य गणना से ही सिद्ध हो जाता है।

प्राचीन तथा आधुनिक श्रुति-स्वर विभाजन में सप्तकान्तर्गत सात स्वर एवम् २२ श्रुतियों की धारणा, संख्यात्मक एवं क्रमात्मक दृष्टि से प्राय: समान है , किन्तु जहां एक ओर प्राचीन ग्रन्थकारों ने अपने स्वरों की स्थापना स्वरगत श्रुतियों में से अन्तिम श्रुति स्वर दर्शायी है , वहीं दूसरी ओर आधुनिक विचारक प्रथम श्रुति पर स्वर स्थापना करते हैं । अत: प्राचीनों ने व ४, ७, ९, १३, १७, २०, २२ श्रुतियों पर क्रमश: सा, रे, ग, म, प, ध, नि स्वरों की स्थापना की परन्तु आधुनिक मतानुसार उपर्युक्त सातों स्वर क्रमश: १, ५, ८, १०, १४, १८, २१ पर हैं । यह व्यवस्था षड्जग्राम की है ।

श्रुतिजाति -

संगीत ग्रन्थों में पांच श्रुति-जातियों का उल्लेख हुआ है यथा

- श्रुत्याध्याय -

दीप्ता , आयता, करुणा, मृदु, मध्या। किन्तु नारदीया शिक्षा में इन पांचों नामों का श्रुति रूप में वर्णन उपलब्ध है। इन्हें जाति के नाम से कहीं भी - टीकाकार ने भी सम्बोधित नहीं किया है। किन्तु विद्वान लेखक के मतानुसार - ' यह आवश्यक माना गया है कि वह श्रुतियों के सूक्ष्म भेद तथा जातियों में निष्णात हो ।'[1] (१।७।६) प्रस्तुतप्रसंग में ' जाति 'शब्द लेखक की अपनी कल्पना प्रतीत होती है ।

'संगीतरत्नाकर' में इन नारदोक्त श्रुतियों का 'श्रुतिजाति' के रूप में उल्लेख करते हुये इनका २२ श्रुतियों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया गया है ।

' दीप्ताऽऽयता च करुणा मृदुमध्येति जातय ।।
.... मध्या तुषड विधौ ।। [2]

भरतभाष्यकार ने भी इन पांच श्रुतियों की २२ श्रुतियों में क्या स्थिति है इसे स्पष्ट किया है । [3]

श्रुतिजाति के निरूपण से क्या प्रयोजन है ? इसका उत्तर सिंहभूपाल ने निम्नलिखित शब्दों में दिया है -

' तज्जातिकां श्रुतिं श्रुत्वा मनसो नामसाम्येन तथा-
तथाविकार उत्पद्यत इति सूचयितुं श्रुति-जाति-निरूपणम् ।।[4]

अर्थात् दीप्तादि श्रुतियों के श्रवण से दीप्तादि के भाव मन में अनुभव होते हैं इसलिये जातिवर्णन सार्थक है ।

- -

१- भा०सं०इ० परांजपे पृ० १२४
२- सं०र० १।३।२७-३४ पृ० ८५-८६
३- भरतभाष्य: १ श्रुत्याध्याय श्लोक ६८-१०६
४- सं०र० १।३।२५-३८ सि०भू०टीका

- श्रुत्याध्याय -

उपर्युक्त सामिक श्रुतियां ही संगीत ग्रन्थों में श्रुति-जाति के रूप में वर्णित की गयी तथा स्वरों की श्रुतिसंख्यानुरूप उन्हें भी चार-तीन दो संख्याओं में विभाजित किया गया । उपर्युक्त तथ्य भरतभाष्य के टीकाकार के निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है ।

- " सामयुग के पश्चात संगीत शास्त्रकारों ने सामिक श्रुतियों को श्रुतिजाति में परिवर्तित किया एवं उन्हें षड्जादि सप्त स्वरों में चार, तीन इत्यादि संख्या द्वारा वितरित किया ।
- सामिक पांच श्रुतियों की संख्या बाईस कराली । [१]

सामिक श्रुति-स्वरूप -

सामिक श्रुतियों का क्या स्वरूप था यह शिक्षा के आधार पर बहुत स्पष्ट नहीं होता। नारदीया शिक्षा में आयता को नीचे मृदु को उसका विपर्यय अर्थात् ऊपर अपने स्वर में मध्या श्रुति होती है । ऐसी समीक्षा करके श्रुति प्रयोग करना चाहिये ।

" आयतात्वं भवेन्नीचे मृदुत्वं तु विपर्यये ।
स्वे स्वरे मध्यमत्वं तु तत्समीक्ष्य प्रयोजयेत् ।। [२]

सम्भवत: स्वरस्थश्रुति और स्वरान्तर श्रुति सम्बन्धी विवेचन भी उपर्युक्त श्लोक से लगाया जा सकता है यदि स्वर अपनी श्रुति से नीचा है तो आयताश्रुति, ऊपर है तो मृदु श्रुति और अपने ही स्थान पर है तो(परिस्थितिवशात्) स्वर की मध्या श्रुति होती है ।
किन्तु टीकाकार ने तृतीय स्वर परवर्ती हो तो द्वितीय स्वर की श्रुति

१- भ०भा० टीका पृ० ६८
२- ना०शि० १।७।१२

- श्रुत्याध्याय -

' आयता ' चतुर्थस्वर परवर्ती हो तो द्वितीय स्वर की श्रुति ' मृदु ' तथा द्वितीय स्वर स्वस्थानस्थ होतो द्वितीय स्वर की श्रुति मध्या होती है । [१]

तात्पर्य यह कि ' द्वितीय ' स्वर की स्थिति के अनुकूल ध्यानपूर्वक श्रुतियों का प्रयोग सामगायन में करना चाहिये। नारदीया शिक्षा में एक १।७।६-१८ तक श्रुति सम्बन्धी विवेचन उपलब्ध है, किन्तु उनसे उनकी श्रुति का स्पष्ट स्वरूप सामने नहीं आता । स्वरों की स्थिति के अनुरूप श्रुति प्रयोग बताया गया है इनकी श्रुतिस्वरूप का विवेचन भरतभाष्य की टीका-नुसार निम्नलिखित है ।-

' सामगायन में प्रयोज्य श्रुति विशिष्ट स्वरोच्चार के रूप में थी । [२]

विद्वान लेखक परांजपेजी ने भी निम्नलिखित शब्दों में अपने विचारों की पुष्टि की है । -

' शिक्षा में उपलब्ध संदिग्ध विवरण के कारण श्रुतिरूप के सम्बन्ध में निःसंदिग्ध कल्पना सम्भाव्य नहीं तथापि प्रतीत होता है कि सामगान के अन्तर्गत सूक्ष्म ध्वन्यन्तरों की निदर्शक ' श्रुति ' कल्पना अंकुरित हुई थी । [३]

श्रुतियों की रस व्यवस्था -

संगीत ग्रन्थों में स्वरों का रस सम्बन्धी विवेचन उपलब्ध है। भरतभाष्यकार ने दीप्तादि श्रुतियों से सम्बन्धित रसों का विवेचन किया है।

१- ना०शि० १।७।१२ पृ०४१
२- भरतभाष्य पृ० ६८
३- भा०स०इ० पृ०१२५

- श्रुत्याध्याय -

हास्य-शृंगार रस की दीप्ता श्रुति भरत के मत से है। वीर, अद्भुत, रौद्र रसों की आयता श्रुति होती है। वीभत्स और भयानक में करुणा श्रुति होती है। तथा मृदु और मध्या सभी रसों में प्रयुक्त होती है।

" हास्य-शृंगारयोर्दीप्ता श्रुतिर्भरत-सम्मता ।
आयता चापि कर्तव्या वीर-रौद्राद्भुतेषु च ।।
करुणा हि श्रुतिः प्रोक्ता वीभत्से सभयानके ।
मृदुर्मध्या च सर्वेषु रसेषु विनियुज्यते ।। "[1]

किसी एक श्रुति अथवा स्वर से रसाभिव्यक्ति दुष्कर है, अतः यह कहा जा सकता है कि हास्य व शृंगार की रसाभिव्यक्ति में दीप्ता मुख्य श्रुति है शेष सहयोगी हैं।

भरतभाष्य के टीकाकार ने इन श्रुतियों के नाम व रसाभिव्यक्ति को काल्पनिक बताया है।

" श्रुति-जाति के करुणा आदि नाम तथा उन नामों से सम्बन्ध अथवा सूचित होने वाली रसाभिव्यक्ति काल्पनिक ही माननी पड़ेगी।"[2]

ग्राम -

श्रुतियों के विभाजन से जिस प्रकार स्वरों का निर्धारण हुआ है उसी प्रकार श्रुति-स्वर व्यवस्था से ग्राम की रचना मानी गयी है। दूसरे शब्दों में सांगीतिक दृष्टिकोण से श्रुति स्वर समूह हैं और स्वर समूहग्राम है।

" ग्रामः स्वर समूह : ।"[3]

१- भरतभाष्य श्रुत्याध्याय श्लोक १३४-३५
२- भरतभाष्य टीका पृ० १०७
३- संगीत रत्नाकर १ ४।१ पृ०-९९

- श्रुत्याध्याय -

' संगीतसमयसार ' के अनुसार व्यवस्थित श्रुतियों को समूहग्राम है ।

' व्यवस्थित श्रुतीनां हि समूहो ग्राम इष्यते ।। [१]

मतंग ने ग्राम की परिभाषा करते हुए कहा है कि -' ग्राम ' शब्द समूहवाची है जिस प्रकार कुटुम्ब में लोग मिलजुलकर मर्यादा की रक्षा करते हुए इकट्ठे रहते हैं उसी ,प्रकार संवादी स्वरों को वह समूहग्राम है जिसमें श्रुतियां व्यवस्थित रूप में विद्यमान हों और जो मूर्छना, तान, वर्ण, क्रम , अलंकार इत्यादि का आश्रय हों ।

शिक्षा ग्रन्थों में ग्राम की परिभाषा प्राप्त नहीं है । केवल नारदीया शिक्षा में ग्राम शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है । संक्षेप में ग्राम श्रुति-स्वर की क्रमबद्ध वह व्यवस्था है , जिस पर संगीत का प्रासाद स्थित होता है आजकल प्राच्य संगीत में जिसे' सप्तक ' अथवा पाश्चात्य संगीत में जिसे' अष्टक' कहा जाता है ग्राम उसी का प्राचीन पर्याय है । नारदीया शिक्षा में तीन ग्रामों का उल्लेख प्राप्त है । षड्जग्राम, मध्यमग्राम, तथा गान्धारग्राम । किन्तु इन ग्रामों की श्रुतिव्यवस्था अथवा स्वर व्यवस्था के बारे में कोई चर्चा वहां प्राप्त नहीं होती । इन तीनों ग्रामों का सम्बन्ध शिक्षाकार ने क्रमशः भूलोक, अन्तरिक्षलोक, और स्वर्गलोक से बताया है ।

' षड्ज-मध्यम-गान्धारास्त्रयोग्रामाः प्रकीर्तिताः ।
भूर्लोकाज्जायते षड्जो भुवर्लोकाच्च मध्यमः ।।
स्वर्गान्नान्यत्र गान्धारो नारदस्य मतं यथा ।[२]

- -

१- संगीतसमयसार स०र० से उद्धृत पृ०१०१
२- भरतकोष पृ० ९८६
३- ना०शि० १।२।६

- श्रुत्याध्याय -

संगीत के अन्यान्य ग्रन्थों में भी ग्रामोल्लेख है, किन्तु नारदीया शिक्षा के अतिरिक्त केवल नान्यदेव ने गान्धार ग्राम की चर्चा विस्तार से की है -

" सप्त-स्वरोपचितास्त्रयो ग्रामा: ।
षड्जग्रामो मध्यमग्रामो गान्धारग्राम इति ।।
-- -- -- -- -- -- -- -- --
गान्धारो मध्यमश्चाथ पंचमो धैवतस्तथा ।।
निषादश्च तथा षड्ज ऋषभश्च - - - स्वरक्रम: ।
-- -- -- -- स एवात्र गान्धारग्राम इष्यते ।।[१]

नान्यदेवानुसार तीन ग्राम षड्ज मध्यम एवं गान्धार है । ग, म, प , ध नि, सा, रे स्वर क्रम गान्धार ग्राम में है। नान्यदेव के अनुसार स्वर्ग में गन्धर्वलोग गान्धारपूर्वक गाते हैं । अत्याधिक तार तथा अत्याधिक मन्द्र के कारण मनुष्य यहां नहीं गाते हैं ।-

" गन्धर्वैर्गीयते स्वर्गे ग्रामो गान्धारपूर्वक: ।
अतितारातिमन्द्रत्वान्नात्र गायन्ति मानवा: ।।[२]

मतंग ने भी दो ग्रामों का उल्लेख किया है गान्धारग्राम का गान मनुष्य नहीं करते ऐसा स्पष्ट किया है ।

" षड्जमध्यमसंज्ञौ तु द्वौ ग्रामौ विश्रुतौ किल ।
गान्धारं नारदो ब्रूते स तु मर्त्यैर्न गीयते ।। [३]

दत्तिल ने भी गान्धारग्राम की पृथ्वीलोक में अनुपलब्धि स्वीकार करते हुए दो ही ग्राम षड्ज एवम् मध्यम की चर्चा की है ।

" स्वरा: षड्जादय: सप्त ग्रामौ द्वौ षड्जमध्यमौ।
केचिद् गान्धारमप्याहु: स (तु) नेहोपलभ्यते ।।[४]

१- भ०भा० १ श्रुत्याध्याय श्लोक ३६,४३-४४
२- भ०भा० श्रुत्याध्याय श्लोक ५६
३- बृहद्देशी - श्लोक-६१
४- दत्तिलम - श्लोक -११

- श्रुत्याध्याय -

भरत ने षड्ज और मध्यम दो ग्राम ही बताये हैं ।

" अथ द्वौ ग्रामौ षड्जग्रामोमध्यमग्रामेश्चेति ।। [1]

अभिनवगुप्त के मतानुसार गान्धारग्राम की चर्चा इसलिये नहीं की क्योंकि वह अतितारत्व एवं अतिमन्द्रत्व के कारण वैस्वर्ययुक्त है ।

" अतितारातिमन्द्रत्वाद् वैस्वर्यान्नोपदर्शित: ।।[2]

' संगीतरत्नाकर ' में षड्ज और मध्यम दोनों को ही इसी धरातल पर प्रतिष्ठित बताया है -

" तौ द्वौ धरातले तत्र स्यात्षड्जग्राम आदिम: ।[3]

गान्धारग्राम के विषय में पूर्वलिखित नारद का मत ही दोहराया है ।

' गान्धारग्राम माचष्ट तदा तं नारदो मुनि:
प्रवर्तते स्वर्गलोके ग्रामो सौ न महीतले ।। [4]

षड्ज एवम् मध्यमग्राम में जो पंचम सत्रहवीं श्रुति पर है वही जब १६वीं श्रुति पर हो जाता है तो वह मध्यम ग्राम हो जाता है। अर्थात् षड्जग्राम में पंचम चतु:श्रुतिक और धैवत त्रिश्रुतिक है, किन्तु मध्यम ग्राम में इसका उल्टा है। जहां पंचम त्रिश्रुतिक एवं धैवत चतु:श्रुतिक है ।

' षड्जग्राम: पंचमे स्वचतुर्थश्रुतिसंस्थिते ।
स्वोपान्त्य श्रुतिसंस्थेऽस्मिन्मध्यमग्राम इष्यते ।।[5]

उपर्युक्त दोनो ग्रामों को षड्ज व मध्यम ग्रामों की संज्ञा देने का कारण उनमें स्वर विशेष का संवाद है । षड्ज ग्राम में षड्ज का मध्यम तथा

- -

१- नाट्यशास्त्र श्लो०२३ पृ० १५
२- भरतकोष पृ० १८६
३- संगीतरत्नाकर १।४।१ पृ० ६६
४- - वही - १।४।५ पृ० १००
५- सं०र० १।४।२-३

- श्रुत्यध्याय -

पंचम के साथ क्रमशः नौ एवं तेरह श्रुति का संवाद है । इसके अतिरिक्त ऋषभ पंचम संवाद है, किन्तु षड्ज-पंचम संवाद नहीं है जिसका अन्तराल बारह श्रुतियों का ही है ।
भरत की भांति सारंगदेव ने भी नौ तथा तेरह श्रुतियों के अन्तराल को संवादी तथा दो व बीस श्रुतियों के अन्तराल को विवादी तथा शेष को अनुवादी बताया है ।

षड्ज और मध्यम ग्राम के पूर्वलिखित विवरण से जो नाट्यशास्त्र और संगीत रत्नाकर में वर्णित है, इन दोनो ग्रामों की आवश्यक जानकारी प्राप्त हो जाती है ।

भरतभाष्यकार ने गान्धारग्राम में गान्धार को चतुः श्रुतिक बताया है। ' मध्यम ' की ' प्रीति ' एवं ऋषभ की रंजनी श्रुति गान्धार को मिल जाने से वह चतुः श्रुतिक हो जाता है। तथा प, ध की तीन-तीन श्रुति हैं, ऐसा राजनारायण के नाम से वर्णित है ।

> मृदी -- -- -- -- -- -- -- -- --
> चतुःश्रुतिश्च गान्धारः पधौ त्रिश्रुतिकौ यदि।
> गान्धारस्तु स्वके ग्रामे चतुःश्रुतिक उच्यते ।
> गान्धारग्राममित्येवं राजनारायणा भ्यधात ।।
> ग्रामेषु त्रिषु शेषास्तु चतस्त्रः पूर्ववन्मताः ।।[१]

गान्धार के चतुश्रुतिक होने पर ऋषभ द्विश्रुतिक और मध्यम त्रिश्रुतिक हो जाता है । गान्धारग्राम का उपर्युक्त विवेचन अपर्याप्त है। उपर्युक्त ग्राम में रे - ध (१३ श्रुति) म-नि (नौ श्रुति) तथा सा-म (९श्रुति) का संवाद है । उपर्युक्त तीनो ग्रामों के श्रुति-स्वरान्तर निम्नलिखित है ।

- -

१- म०भा० श्लोक ६३-६६ पृ०७८-७९

- श्रुत्याध्याय -

षड्जग्राम

स रि ग म प ध नि
४ ३ २ ४ ४ ३ २

मध्यमग्राम

सा रि ग म प ध नि
४ ३ २ ४ ३ ४ २

गान्धारग्राम

सा रि ग म प ध नि
३ २ ४ ३ ३ ३ ४

उपर्युक्त गान्धारग्राम की रचना का बीज प्राचीन ग्रन्थों में यथा -' नारदीया शिक्षा' नाट्यशास्त्र' इत्यादि में अप्राप्य है भरतभाष्य के टीकाकार के अनुसार -

" तृतीय गान्धारग्राम केवल औपपत्तिक (Theoretical) ही रहा होगा ।[१]

नारदीया शिक्षा में गान्धारग्राम का रचना सम्बन्धी विवरण नहीं दिया गया है । प्रत्युत षड्ज और मध्यमग्राम की भांति ही केवल नामोल्लेख किया गया है , तथा स्वर्ग से सम्बन्धित बताकर तद्विषयक कोई धारणा स्थापित करने का अवकाश ही नहीं दिया गया है ।

संगीतरत्नाकरकार ने यद्यपि गान्धार ग्राम का स्वर्ग में होना बताया है फिर भी उसकी श्रुति-स्वर व्यवस्था बतायी है ।

१- भरतभाष्य टीका पृ० ७५

- श्रुत्याध्याय -

"रिमयोः श्रुतिमेकां गान्धारश्चेत्समाश्रितः ।
पश्रुति धो निषादस्तु धश्रुति सश्रुति श्रितः ।।" [१]

अर्थात ऋषभ, मध्यम की एक एक श्रुति गान्धार ले लेता है । प की श्रुति धैवत ले लेता है तथा निषाद धैवत और षड्ज की श्रुति लेकर चार श्रुति का हो जाता है । यह तथ्य सिंहभूपाल की टीका से और स्पष्ट हो जाता है । यथा -

"गान्धारग्रामस्य क्षितितलेऽनुपयोगेऽपि शास्त्रस्य सर्वविषयत्वात-लक्षणं कथयति -- -- -- गांधार ऋषभस्यान्तिमां श्रुतिं मध्यमस्य चादिमां श्रुतिमाश्रितः सश्चतुः श्रुतिर्भवति। धैवतस्तु पंचमस्यान्तिमां श्रुतिमाश्रयति । निषादश्च धैवतस्यान्तिमां श्रुति गृहीत्वा षड्जस्य चादिमां श्रुतिं समाश्रितः संश्चतुःश्रुति-र्भवति। तदा तं गांधारग्रामं नारदो मुनिराष्ट। नारदकथनं प्राशस्त्यार्थं न तु स्वमतेऽन्यथात्वप्रकटनार्थम् ।।

अर्थात स ३, रि २ , ग४, म ३, प ३, ध ३ एवं निषाद ४ श्रुति का है उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि रत्नाकर व भरतपूर्व ही गान्धार ग्राम का इतिहास क्रम उपलब्ध था । गान्धार ग्राम में सा $\overset{६}{=}$ म रे $\overset{१३}{=}$ ध ग[६] - ध ग[१३] - नि क्रमशः ६, १३, ६, १३ श्रुतियों के संवाद बनते हैं । मतंग तथा शारंगदेव ने गान्धारग्राम से उत्पन्न होने वाली किसी जाति या राग का निर्देश तक नहीं किया है । किन्तु नान्यभूपाल ने रागाध्याय गान्धार ग्रामोत्पन्न रागों का उल्लेख किया है -

"गान्धारग्रामिका रागाः -- -- -- -- -- --
गान्धारग्राम-संभूता विभाषा इति कीर्तिनाः
-- -- -- -- -- गान्धारस्ग्रामजानि च ।।" [२]

१- सं०र० १।४।४
२- भरत भाष्य - ।। जात्याध्याय ७४-८० पृ० २३६-२३७

- श्रुत्यध्याय -

यद्यपि गान्धारग्राम का विवेचन संगीतरत्नाकर व भरतभाष्य में उपलब्ध है परन्तु फिर भी इस ग्राम के सन्दर्भ में सन्देह संगीतज्ञों में व्याप्त है। यह देसाईजी के निम्नवचन से स्पष्ट है ।

" हमारे ग्रन्थकार जो बातें स्वयं ही नहीं समझ सके, उनका स्पष्टीकरण दूसरों के लिये किस प्रकार करते थे , उसका यह एक अच्छा उदाहरण है । " १

उनके विचार से यह स्पष्ट है कि गान्धारग्राम का विवेचन ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं किया गया है । -

" गान्धारग्राम की उत्पत्ति एवं लय का विचार ऐतिहासिक दृष्टिकोण से करना चाहिये ।"२

फिर भी नाम के आधार पर यह कल्पना कर लेना नितान्त स्वाभाविक होगा कि गान्धारग्राम में गान्धार स्वर अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण रहा होगा तथा संवाद की दृष्टि से भी गान्धार स्वर केन्द्र रहा होगा । ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि षड्जग्राम में षड्ज का और मध्यमग्राम में मध्यम का संवादाधिक्य है । यदि षड्ज तथा मध्यम ग्राम का श्रुति-स्वर व्यवस्था की दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि गान्धार स्वर संवाद की दृष्टि से सर्वाधिक उपेक्षित है, क्योंकि गान्धार का केवल निषाद के साथ संवाद है । शेष स्वरों के साथ अनुवाद या विवाद है । (संवाद से तात्पर्य नौ अथवा तेरह श्रुतियों का सम्बन्ध)

गान्धार ग्राम का तात्पर्य गन्धर्वों द्वारा प्रयुक्त संगीत के ग्राम से अथवा गान गान्धर्व में से द्वितीय के साथ सम्बद्ध भी हो सकता है । भरत, मतंग, सारंगदेव इत्यादि ने गन्धर्व नारद की संगीत सम्बन्धी मान्यताओं का बारम्बार उल्लेख किया है ।३

१- भ०भा० । श्रुत्याध्याय टीका पृ० ७४-७५

२- वही

३- भा०सं०इतिहास पृ०१२७

अत: सम्भव है कि गान्धार ग्राम की चर्चा के कारण ही गन्धर्वनारद कहा गया हो । डा०परांजपे ने शिक्षाकार नारद को गन्धर्व नारद से अलग व्यक्ति माना है और प्रस्तुत नारदीया शिक्षा को प्रयुक्त दोनों ग्रन्थकारों के विचारों का संकलन बताया है । क्योंकि उनके अनुसार - नाट्यशास्त्र के साक्ष्य से स्पष्ट है कि अन्य वेदों के साथ सामवेद शिक्षाओं का विकास, उससे पूर्व हो चुका था तथा नारद का गान्धर्व विषयक ग्रन्थ भी उपलब्ध था , जिसमें गान्धर्व की जाति, राग, वाद्य इत्यादि विषय समाविष्ट थे । १

अभिनवगुप्त द्वारा गान्धारग्राम के लोप का कारण अतितार अतिमन्द्र वैस्वर्य इत्यादि बताना भी बड़ा महत्वपूर्ण है, क्योंकि अतितार, अतिमन्द्र से तात्पर्य यदि विस्तृत परिधि (Range) है तो यह बात समझ में आती है कि व्यवहार में तो कम परिधि का संगीत प्रचलित रहता है । अत: इससे विपरीत संगीत को धरातल से परे का बताना ठीक ही है । आजकल भी यह देखा जाता है कि तीन अथवा साढ़े तीन सप्तक से अधिक विस्तार का संगीत प्रचलित नहीं है हो भी नहीं सकता क्योंकि जहां मानवकण्ठ की अपनी सीमायें हैं । वहीं वाद्यों पर भी अधिक सप्तकों में संगीत प्रयोग अत्यधिक दुष्कर है ।

गान्धारग्राम की क्लिष्टता क्लेमेण्ट्स के शब्दों में निम्नलिखित है ।

"The गान्धारग्राम has always presented difficultie[s] to the student, and has always proved an attrac[tive] problem in spite of the fact that it was obsol[ete] in शाङ्र्गदेव's time ---"२

~~सारंगदेव~~ २

१- भा०सं०इतिहास पृ०१२७
२- स्टडीज इन द थ्योरी ऑफ इण्डियन म्यूजिक पृ. 56-57

- श्रुत्याध्याय -

मुर्च्छना - तान

ग्राम के उपरान्त मूर्च्छना व तान इत्यादि की चर्चा नारदीया शिक्षा में की गयी है ।

" सप्तस्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्च्छनास्त्वेक विंशति:
तानाः एकोनपंचाशन्दित्येतत्स्वरमण्डलम् ।। [१]

शार्ङ्गदेव ने तो इन्हें ग्रामाश्रित कहा है -

" ग्राम: स्वरसमूह: स्यान्मूर्च्छनाऽऽदे: समाश्रय: [२]

भरत ने दो ग्राम मानने के कारण दोनों की सात-सात अर्थात् चौदह मूर्च्छनायें गिनायी हैं, जिनके नाम क्रमश: इस प्रकार हैं ।
षड्जग्राम की मूर्च्छनायें - १ - उत्तरमन्द्रा २- रजनी ३- उत्तरायता ४- शुद्धषड्जा ५- मत्सरीकृता ६- अश्वक्रान्ता ७- अभिरुद्गता है । इन मूर्च्छनाओं के आदि स्वर क्रमश: सा नि, ध,प, म, ग, रे हैं ।
मध्यमग्राम की मूर्च्छनायें - १- सौवीरी २- हरिणाश्वा ३- कलोपनता ४- शुद्धमध्या ५- मार्गी ६- पौरवी ७- हृष्यका है जिनके आरम्भक स्वर क्रमश: म, ग, रे, सा, नि, ध, प हैं ।[३]

नारदीया शिक्षा में मूर्च्छना की परिभाषा नहीं दी गयी है । तीन ग्रामों का नामोल्लेख होने से प्रत्येक ग्राम की सात-सात मूर्च्छनायें मानते हुये कुल २१ मूर्च्छनाओं का वर्णन किया गया है । भरत ने मूर्च्छना की परिभाषा करते हुए क्रमयुक्त सप्तस्वरों को मूर्च्छना कहा है ।

- -

१- ना०शि० १।२-१४
२- सं०र० १ १।४।१ पृ० ६६
३- नाट्यशास्त्र २८।२७-३१ पृ० २०-२५

- श्रुत्याध्याय -

" क्रमयुक्ता: स्वरा: सप्त मूर्च्छनास्त्वभि संज्ञिता: । [1]

नारदीया शिक्षा में वर्णित गान्धार ग्राम की मूर्च्छनाओं के नाम निम्न-लिखित हैं -

१- नन्दी २- विशाला ३- सुमुखी ४- चित्रा ५- चित्रवती
६- सुखा एवम् ७- बला इन्हें देव मूर्च्छना कहा गया है । इसके उपरान्त पितृ मूर्च्छनायें बतायी गयी हैं, जो मध्यम ग्राम की हैं -

१- आप्यायिनी २- विश्वभृता ३- चन्द्रा ४- हेमा ५- कपर्दिनी
६- मैत्री ७- बार्हती
षड्जग्राम की नारदोक्त मूर्च्छनायें - १- उत्तरमन्द्रा २- अभिरुद्गता ३- अश्वक्रान्ता ४- सौवीरा ५- हृष्यका ६- उत्तरायता ७- रजनी है। इनके आरम्भक स्वर क्रमश: सा, रे, ग, म, प, ध, नी है तथा इन्हें ऋषियों की मूर्च्छना कहा गया है । [2]

शिक्षाकार के अनुसार मध्यम ग्रामीय मूर्च्छना का प्रयोग यक्षों के द्वारा होता है, षड्जग्रामीय मूर्च्छनाओं का प्रयोग ऋषियों तथा लौकिक गायकों के द्वारा होता है तथा गान्धार ग्रामीय मूर्च्छनाओं का प्रयोग गन्धर्वों के द्वारा होता है । [3] तथा गान्धर्व के षड्जादि सप्त स्वर देव, ऋषि पितर: आदि के लिये उपजीव्य हैं ।[4]
शिक्षाकार का यह कथन है कि षड्जग्राम का प्रयोग लौकिक व्यक्तियों द्वारा होता है , इस बात की ओर संकेत करता है कि तत्कालीन समाज में संगीत के एक से अधिक प्रकार प्रचलित थे तथा प्रत्येक वर्ग का पृथक-पृथक संगीत था।

१- भरत सं० अ० २८ पृ०-४३५
२- ना०शि० १।२।६-१३
३- ना०शि० १।२।१३-१४
४- ना०शि० १।२।१५-१६

- श्रुत्याध्याय -

यद्यपि गान गान्धर्व जैसी भरतोक्त संज्ञायें और तदनुसार द्विधा संगीत के रूप अथवा लोकसंगीत और शास्त्रीय संगीत जो आधुनिक युग में प्रचलित है जैसी कोई बात शिक्षाग्रन्थों में प्राप्त नहीं होती फिर भी उपर्युक्त कथन से संगीत के त्रिधा रूप की पुष्टि हो जाती है।

नारदोक्त षड्ज और मध्यम ग्राम की मूर्च्छनाओं में तथा भरतोक्त उभय ग्रामों की मूर्च्छनाओं के नामों में पर्याप्त अन्तर है। षड्जग्राम में नारद की उत्तर रजनी, उत्तरायता, अश्वक्रान्ता अभिरुद्गता ये पांच मूर्च्छनायें भरत ने भी गिनायी हैं। किन्तु शेष दो मूर्च्छनायें भरत के अनुसार शुद्धषड्ज मत्सरीकृता है, जबकि नारदीया शिक्षा में सौवीरा हृष्यका हैं। नारद की इन दो मूर्च्छनाओं का समावेश भरत के मध्यम ग्राम की मूर्च्छनाओं में हुआ है, जहां प्रथम मूर्च्छना सौवीरा, सातवीं हृष्यका बतायी गयी है। अत: नारदीया शिक्षा के षड्ज ग्राम की पांच मूर्च्छनायें भरत के षड्जग्राम में और शेष दो मध्यम ग्राम में मिलती हैं। किन्तु नारदीया शिक्षा के मध्यम ग्राम की मूर्च्छनायें तथा भरतोक्त मध्यमग्रामीय मूर्च्छनायें नितान्त भिन्न हैं, जोकि विचित्र बात है। गान्धारग्राम की मूर्च्छनायें तो भरत ने बतायी ही नहीं हैं अत: नारदीया शिक्षा से तो उसकी तुलना का प्रश्न ही नहीं है, किन्तु षड्ज और मध्यम ग्राम की मूर्च्छनाओं में उपर्युक्त वैभिन्न्य एक पृथक अनुसन्धान का विषय हो सकता है।

भरत ने चतुर्विधा मूर्च्छना का विवरण दिया है किन्तु नारदीया शिक्षा में भेद ग्राम के अतिरिक्त अन्य किसी दृष्टिकोण से वर्णित नहीं है। तान के प्रकरण में शिक्षाकार ने उनचांस तानों की संख्या बतायी है -

तानाः एकोनपंचाश-दित्येतत्स्वरमण्डलम् ।।[१]

१- ना० शि० १।२।४

इन उनंचास तानों का वर्गीकरण ग्रामानुसार निम्नवत् है -
मध्यमग्राम में बीस, षड्जग्राम में चौदह और गान्धार ग्राम में १५ बतायी हैं ।

' विंशति मध्यमग्रामे षड्जग्रामे चतुर्दश ।
तानान् पंचदशेच्छन्ति गान्धारग्रामभाश्रितान् ।। १

साधारणकृता मूर्च्छनाओं की स्थापना-विधि को निर्दिष्ट करने पर पंचस्वरी तथा षटस्वरी मूर्च्छनाओं के लिये 'तान' शब्द का प्रयोग दत्तिल ने किया है तथा ऐसी कुल ८५ तानें बतायी हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि मूर्च्छनाओं का प्रयोग (वादन) करते समय जो वीणा इत्यादि के तारों का तनन कार्य होता है और तन्त्रियों के तानने से ही नाना स्वर प्रस्फुटित होते हैं इसी कारण शायद 'तान' शब्द बना । इसी सन्दर्भ में दत्तिल का यह कथन दृष्टव्य है ।-

' एव कृतेऽपि तानत्वे गणयित्वा विनाशितम् ।
विज्ञानेतावतिच्येषा मुर्च्छनेत्यवधारयेत् ।।

क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त मूर्च्छनास्तु याः ।
पूर्णाश्चैवाप्यपूर्णाश्च कूटतानास्तु ते स्मृता ।। २

भरत ने भी इस प्रसंग में चौरासी तानें मानी हैं, किन्तु उन्होंने मूर्च्छना तान संज्ञा का प्रयोग किया है जो इस बात को प्रमाणित करता है कि मूर्च्छना से तान का कोई तात्विक भेद नहीं है और न ही प्रक्रिया तथा क्रम का भेद है। मूर्च्छना में ही सप्त के ~~~~ स्थान पर षट् अथवा पंच स्वर प्रयोग करने से मूर्च्छना ही तान कहलाती है षाड़्वी (षट्स्वरवाली)

१- ना०शि० १।२।८
२- 'दत्तिलम्' श्लोक ३७-३८ पृ०११

मूर्च्छनाओं की संख्या भरत ने उनंचास तथा औडवी (पांचस्वरवाली) मूर्च्छनाओं की संख्या पैंतीस बतायी है इन सबका कुल योग ८४ होता है ।

" तत्र मूर्च्छनाश्रितास्ताश्चतुरशीतिः तत्रैकान्नपंचाशत् ।
षट्स्वराः पंचत्रिंशत् पंचस्वराः ।। १

नारदीया शिक्षा में तान व मूर्च्छनाओं को अलग अलग रूप में ग्रहण किया गया है इनके विवरण में भी तारतम्यता नहीं है। तान की चर्चा मूर्च्छना से पूर्व हुयी है, अतः नारदोक्त तान , मूर्च्छनातान नहीं है । 'तान' मूर्च्छना से पृथक जान पड़ती है। तत्सम्बन्धी परिभाषा वहां उपलब्ध न होने से दोनों (तान् मूर्च्छना) के साम्य और वैषम्य का यथार्थ परिचय प्राप्त कर पाना कठिन है । टीकाकार शोभाकर भट्ट ने भी तान और मूर्च्छना के भेद को दर्शाने के लिये कोई विवरण नहीं दिया है तान-लक्षण उन्होंने अवश्य दिया है । उनके अनुसार -

" परस्परं स्वराणां तननात्तानाः ।। २

अर्थात् स्वरों के परस्पर तानने से 'तान' होती है तथा मूर्च्छना के लक्षण में उनका कथन है कि -

" स्वराणां समुच्छ्रयणादुर्ध्वमुच्छ्रयणात्प्रेरणां मूर्च्छना ।।३

अर्थात मूर्च्छना स्वरोंका आरोहीक्रम है । ४

यदि शोभाकर भट्ट द्वारा प्रदत्त तान व मूर्च्छना के लक्षण पर ध्यान दिया जाय तो यह तथ्य सम्मुख उपस्थित होता है कि - मूर्च्छना सात स्वरों का क्रमण आरोह है, जबकि तान स्वरों का परस्पर तानना है जिसमें क्रम तथा सप्त स्वर की अनिवार्यता नहीं है । दूसरे शब्दों में स्वरों को

- -

१- नाट्यशास्त्र अ० -२८ पृ० २७
२- ना० शि० १।२।८ की टीका
३- वही
४- बृहद्देशी पृ० २०

- श्रुत्यध्याय -

इच्छानुसार आगे-पीछे अथवा मध्य के स्वर छोड़कर प्रयोग करने की क्रिया तान है। इस अर्थ में तान का स्वरूप वर्तमान काल में प्रयुक्त होने वाली तानों के अनुरूप ही मानना होगा । अतः स्वर ही भरतोक्त एवं नारदोक्त ` तान ` का वैभिन्न्य स्पष्ट है ।

विशाखिल के मतानुसार मूर्च्छना में जो अणुत्व अन्तर है वह असंगत है ।* चूंकि भरतनेसं ग्रह श्लोक में दोनों में अन्तर बताया है - मूर्च्छना आरोह क्रम से और तान अवरोह क्रम से होती है ।

> * ननु मूर्च्छनातानयोः को भेदः ? उच्यते , मूर्च्छनातानयोरणुत्वान्तरमिति विशाखिलः । एतच्चासंगतम् । भरतस्य संग्रहश्लोके मूर्च्छनातानयोर्भेदस्य प्रतिपादित्वात् , कथम ? मूर्च्छनारोहक्रमेण-तानोऽवरोहक्रमेण भवतीतिभेदः ।। [१]

शिक्षाकार ने तानों के लिये अवरोही क्रम की कोई चर्चा नहीं की है । किन्तु कुछ लोगों का अनुमान है कि वे प्रथमतः सामगायन में प्रयुक्त होती थी और चूंकि साम सप्तक अवरोही था यही कारण होगा कि तानें निम्नतर निम्नस्थ स्वरों में चलती रही होंगी ।[२] परन्तु तानों को केवल अवरोहात्मक मानना समीचीन नहीं होगा क्योंकि वैसा करने से एक तो उनकी व्याप्ति (Scope) कम हो जायेगी और फिर इस मत को मानने का कोई पर्याप्त आधार भी नहीं है ।

- -

१- भरतकोष पृ०-५०२
२- भरतभाष्य टीका पृ० १२२

- श्रुत्याध्याय -

ग्रामराग -

शिक्षाकार ने ग्राम के उपरान्त ग्रामराग का उल्लेख किया है, तथा उसका लक्षण निम्नवत् किया है -

" स्वररागविशेषेण ग्रामरागा इति स्मृता: ।।"[१]

शोभाकर भट्ट के मतानुसार ग्रामों की दीप्तायता स्वरश्रुति विशेषपरक रचना को ग्रामराग कहा जाता है ।[२]

डा०परांजपे ने ग्रामराग को प्रस्तुत प्रसंग में स्वर तथा राग का विशिष्ट संयोजन बताया है ।[३] किन्तु नारदीया शिक्षा से यह कथन स्पष्ट नहीं होता। परांजपेजी ने भी अपने उपर्युक्त तात्पर्य के आधार स्पष्ट नहीं किये हैं परवर्ती ग्रन्थकारों ने जिनमें विशेषरूप से मतंग तथा सारंगदेव आते हैं ग्रामराग की चर्चा की है किन्तु उनका कोई पर्याप्त लक्षण नहीं दिया है । संगीतरत्नाकर में पांच गीतियों के आश्रय से पंच ग्रामराग प्रकार का उल्लेख है ।

" पंचधा ग्रामरागा: स्यु: पंचगीति समाश्रयात् ।।"[४]

उनके टीकाकारों ने भी पांच ग्रामराग प्रकारों के विभाजन का आधार पंचगीतियों को तो विस्तार से बताया है, किन्तु ग्रामराग का पर्याप्त लक्षण वे भी नहीं दे सके ।

" तत्रादौ ग्रामरागा: पंचविधगीतिभेदाश्रयेन्णेन पंचधा भिधन्त इत्याह:[५]

१- ना०शि० १।२।७
२- वही टीका
३- भा०सं०इतिहास पृ० ११३
४- सं०र० ।। पृ०-३
५- सं०र० ।। वही

- श्रुत्यध्याय -

सिंहभूपाल ने ग्रामरागाश्रित पंच गीतियां बतायी हैं -

१- शुद्धा २- भिन्न ३- गौड़ी ४- वेसरा ५- साधारणी [१]

नाट्शास्त्र में निम्नलिखित चार ही गीतियां प्राप्य हैं - १- मागधी
२- अर्धमागधी ३- सम्भाविता ४- पृथुला । [२]

मतंग ने निम्नलिखित सात गीतियां बतायी हैं।

१- शुद्धगीति २- भिन्नका ३- गौड़िका ४- रागगीति
५- साधारण ६- भाषागीति ७- विभाषा । [३]

याष्टिक ने तीन ही गीतियां बतायी हैं - १- भाषा २- विभाषा
३- अन्तरभाषिका

' भाषा चैव विभाषा च तथा चान्तरभाषिका ।
तिस्रस्तु गीतयः प्रोक्ता याष्टिकेन महात्मना ।। [४]

शार्दुलमत में केवल ' भाषा ' नामक एकमात्र गीति है ।

' भाषाख्या गीतिरेकैव शार्दुलमत संमता ।। [५]

ग्रामरागो के लक्षण के विषय में भले ही नारदीया शिक्षा में अपर्याप्त एवं अस्पष्ट विवेचन मिलता है, किन्तु ग्रामरागों का उल्लेख सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में हुआ है जिससे उपलब्ध संगीत सम्बन्धी ग्रन्थों में इसकी प्राचीनता तो सिद्ध होतीहै है ~~ग्रामरागों~~ के साथ ही इसकी राग विषयक मान्यता भी सिद्ध होती है।

- -

१- सं०र० सिंहभूपाल टीका
२- नाट्यशास्त्र २६।४६ पृ०६३
३- बृहद्देशी - श्लोक २८७
४- बृहद्देशी - श्लोक २८९
५- वही - श्लोक २९०

- श्रुत्याध्याय -

ग्रामरागों के अन्तर्गत शिक्षाकार ने निम्नलिखित सात ग्रामराग बताये हैं - १- षाड्व २- पंचम ३- मध्यमग्राम ४- षड्जग्राम ५- साधारित ६- कौशिकमध्यम तथा ७ कैशिक

' ऋषभोत्था -- -- -- -- -- --
कैशिकं प्राह मध्यमग्रामसंभवम्।।'[१]

शिक्षाकार के अनुसार 'षाड्व' राग मध्यम ग्रामोत्पन्न है । भाष्यकार ने इसे षाड्व जाति का राग बताया है, जिसमें गान्धार स्वर वर्जित है-

'ऋषभादनन्तरं -- -- -- -- -- -- षाड्व जानीयात
गान्धाराभावात्' ।।[२]

मतंग ने इसे सम्पूर्ण राग मानना अधिक उचित ठहराया है। उनके अनुसार इसकी षाड्व संज्ञा षट्स्वरों के प्रयोग के कारण नहीं है अपितु मूलभूत षट्रागों में प्रमुखतम होने के कारण है ।[३]

भाष्यकार के अनुसार 'पंचम' नामक ग्रामराग में केवल पांच ही स्वरों का प्रयोग होता है ।

' स्वरपंचकेन गीयमानस्य मध्यमरागस्यादित्वेन ऋणं क्रियते।'[४]

मतंग के अनुसार यह 'षड्जीवी व्यवती' जाति से उत्पन्न शुद्ध ग्रामराग है । कश्यप के अनुसार यह मध्यमग्राम से उद्भूत होने वाला राग है ।[५]

- -

१- ना०शि० १।४।५-११
२- वही टीका
३- बृहद्देशी -पृ० ३०
४- ना०शि० - टीका १।४।५
५- बृहद्देशी - पृ० ३०

' मध्यम' ग्रामराग में गान्धार का प्राबल्य, निषाद का बारम्बार प्रयोग तथा धैवत् का दौर्बल्य अपेक्षित है ।

' षड्ज ' नामक राग के लिये निषाद का अल्प स्पर्श, गान्धार का प्राबल्य तथा धैवत् का कम्पन प्रमुख लक्षण है ।

' साधारित' ग्रामराग में अन्तर गान्धार एवं काकलि निषाद का प्रयोग होता है । मतंग के अनुसार यह षड्जग्राम से उत्पन्न होने वाला सम्पूर्ण एवं शुद्ध राग है, जिसमें ग एवं नि स्वरों का प्रयोग अल्प मात्रा में किया जाता रहा है ।[१]

' कैशिकमध्यम' राग का वैशिष्ट्य मध्यम के न्यास स्वर होने में है। मतंग के अनुसार इस राग का सम्बन्ध षड्ज तथा मध्यम दोनों ग्रामों से है । मध्यम स्वर पर न्यास, निषाद गान्धार का अल्पत्व तथा काकलि निषाद का प्रयोग इसके लक्षणों में से है । [२]

नारदीया शिक्षा के अनुसार ' कैशिक' राग का उद्भव मध्यम-ग्राम से हुआ है । इस राग में काकलि नि का प्रयोग तथा पंचम का प्राबल्य निर्दिष्ट है ।[३]

नारदीया शिक्षा में प्राप्य ग्रामरागों विवेचन स्पष्ट नहीं है। शोभाकर की टीका से भी इन ग्रामरागों का स्वरूप समझना आसान नहीं है । नारदीया शिक्षा में वर्णित ग्रामरागों को गूढ़ता तथा स्थूलता पर प्रकाश डालते हुए परांजपेजी ने कहा -

- -

१- बृहद्देशी - पृ० ३१
२- वही - पृ० ३१
३- ना०शि० - १।४।११

- श्रुत्याध्याय -

" नारदीया शिक्षा में पाया जाने वाला यह ग्रामराग विषयक विवेचन न केवल गूढ़ अपितु स्थूल एवं संदिग्ध दिखाई देता है ।" १

उपर्युक्त श्रुति-ग्राम इत्यादि का विवेचन एवं उल्लेख प्रकारान्तर से आगामी अध्यायों में भी किया जायगा । किन्तु ग्रामराग के विषय में यह कहना तथ्य परक होगा कि भरत इत्यादि में जिन जातियों का उल्लेख किया गया है और जिनसे आधुनिक रागों का विकास हुआ है, वे जातियां नारदोक्त ग्रामरागों का विकसित रूप अथवा उनसे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सम्बद्ध रही होंगी । क्योंकि भरतोक्त मध्यमग्राम जन्य एक जाति कैशिकी है और नारद ने मध्यमग्राम जन्य कैशिकी नाम से ग्रामराग बताया है। इसी प्रकार नारदोक्त मध्यम तथा पंचम ग्रामराग भरत की मध्यमा तथा पंचमी जातियों से साम्य रखते प्रतीत होते हैं । शिक्षाकार ने जातियों का उल्लेख नहीं किया है, जिससे यह अनुमान पुष्ट होता है कि नारदीया शिक्षा में वर्णित ग्रामरागों से जाति का उद्भव हुआ होगा । यद्यपि निश्चित रूप से इस सम्बन्ध में कुछ भी कहना प्रमाणाभाव में उचित नहीं, फिर भी वर्तमान रागों का ऐतिहासिक विकास-क्रम इस सन्दर्भ में भलीभांति समझा जा सकता है ।

- -

१- भा०सं०इतिहास परांजपे पृ० ११६

-: o :-

- स्वराध्याय -

श्रुति-ग्राम विवेचन के उपरान्त स्वर चर्चा आवश्यक है, क्योंकि श्रुति का व्यक्त रूप स्वर ही है , जो संगीत और भाषा का आधार होने के साथ ही साथ अपने में अनेक विशिष्टतायें समाहित किये हुये हैं । स्वर की अवधारणा एवं महत्त्व को समझने के पूर्व उसकी व्युत्पत्ति पर विचार कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा, क्योंकि स्वर शब्द अनेकार्थक होने के साथ ही साथ बहुविध प्रयुक्त है ।

स्वर की व्युत्पत्ति -

स्वर शब्द की निष्पत्ति स्वर - अच् प्रत्यय से मिलकर हुयी है। इसका अर्थ-ध्वनि, अवाज सात की संख्या तथा उदात्त अनुदात्त स्वरित है ।[१]

भाषात्मक दृष्टिकोण से ' स्वर ' का अर्थ -

पतंजलि महाभाष्य के अनुसार जो स्वयं ही राजते हैं , वे ' स्वर ' हैं ।

' स्वयं राजन्त इति स्वरा : ' ।

मतंग ने दीप्ति अर्थ में राजृ धातु से स्व शब्द पूर्वक स्वर शब्द की व्युत्पत्ति बतायी है तथा स्वयं ही राजित (चमकता) होता है , अत: उसे स्वर कहा गया है । -

' राजृ दीप्ताविति धातो: स्वशब्दपूर्वकस्य च ।
स्वयं यो राजते यस्मात् तस्मादेव स्वर: स्मृत: ।।[२]

- -

१- संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ पृ० १३१५
२- बृहद्देशी - श्लोक ६३ पृ०६

- स्वराध्याय -

संगीतरत्नाकर में - जो स्वयं ही श्रोताओं के चित्त का रंजन करे वह स्वर है।

" स्वतो रंजयति श्रोतृचित्तं स स्वर उच्यते "।[१]

भरतभाष्य में - स्वयं रंजक होने के कारण स्वर बताया गया है।

" स्वयमात्मानं रंजयति निपातनात्स्वर-निरुक्ति: ।"[२]

गोपथ ब्राह्मण में -" तद्यत्स्वरति, तस्मात्स्वर: ।" कहकर " स्वर की निरुक्ति दी है। ताण्ड्य महाब्राह्मण में प्राण (प्राणवायु) को स्वर बताया है - " प्राणो वै स्वर: " चूंकि नादोत्पत्ति में वायु प्रमुख तत्त्व है सम्भवत: इसी कारण प्राण को स्वर कहा गया ।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य के भाष्य में उव्वट ने -" स्वयन्ते शब्दन्त इति स्वरा "[३] कहा है अर्थात् जो शब्द करते हैं, वे स्वर हैं।

ताण्ड्य महाब्राह्मण में कथा है कि - असुरों ने जब आदित्य को अन्धकार से आवृत्त कर दिया तब देवताओं ने स्वरों से रक्षा की ।

" आसुर आदित्यन्तमसा विध्यत्तं देवा: स्वरैरस्पृण्वन्यत् ।"[४]

सायण ने " रक्षा का साधन " होने के कारण इनकी " स्वर संज्ञा बतायी,

---

१- सं०र० १।३।२५
२- भरतभाष्य शिक्षाध्याय श्लोक ६६ पृ० २३
३- ऋ०प्रा० १।३ उव्वट भाष्य पृ०४४
४- ता०म०ब्रा० २ पृ० ११३

- स्वराध्याय -

किन्तु तैत्तिरीय शाखा वाले 'स्वरों' के 'अरण' को स्वरों का स्वरत्व बताते हैं।

> 'अतः स्वरण साधनत्वात् एतेषां स्वराणि इति संज्ञा सम्पन्ना तथा च तैत्तिरीयकं यदस्यारणम् तत् स्वराणां स्वरत्वमिति ।।' [१]

नारदीया शिक्षा में स्वर को उच्च नीच एवं स्वरित (बीच का) बताते हुये स्वर को व्यंजन का अनुवर्तक बताया है।

> 'स्वर उच्चः स्वरो नीचः स्वरः स्वरित एव च ।
> व्यंजनान्यनुवर्तन्ते यत्र तिष्ठति स स्वरः ।।' [२]

स्वर की उपमा सूत्र से एवं व्यंजन की मणि से देते हुये - दुर्बल राष्ट्र का जैसे बलवान् राजा हरण कर लेता है, उसी भांति दुर्बल व्यंजन को बलवान् स्वर हर लेता है। उपर्युक्त भाषात्मक स्वर का विवेचन नारदीया शिक्षा में निम्नलिखित शब्दों में किया गया है -

> 'मणिवद्व्यंजन विद्यात्सूत्रवच्च स्वरं विदुः ।।'
> 'दुर्बलस्य यथा राष्ट्रं हरते बलवान् नृपः ।
> दुर्बल व्यंजनं तद्वद् धरते बलवान् स्वरः ।।' [३]

पाणिनीय शिक्षा की पंजिका नामक व्याख्या में 'स्वर' 'शब्द' 'शब्द करने' के अर्थ वाली 'स्वृ' धातु से अच् प्रत्यय लगने पर निष्पन्न हुआ है। ऐसा स्पष्ट किया गया है। -

---

१- ता० म० ब्रा० २ पृ० ११३
२- ना० शि० १।५।२
३- ना० शि० २।५।३-४

- स्वराध्याय -

" स्वर इति स्वृ शब्दोपतापयो : स्वर्यते शब्यतेऽनेन
व्यंजनमिति करणेऽवृ प्रत्यय : । " १

व्यंजनों को सस्वर करने के कारण इन्हें स्वर कहा जाता है। क्योंकि व्यंजन बिना स्वर के उच्चरित नहीं हो पाते। स्वर (शब्द) के अभाव में व्यंजन अनभिव्यक्तावस्था में रहता है। उपर्युक्त स्वर की चर्चा भाषात्मक दृष्टिकोण से की गयी। किन्तु सांगीतिक दृष्टिकोण से स्वर का स्वरूप भिन्न है।

सांगीतिक दृष्टिकोण से स्वर का अर्थ -

संगीतरत्नाकर के अनुसार स्वर वह है, जो श्रुति के अनन्तर होने वाले स्निग्ध, अनुरणनात्मक तथा स्वयं ही, दूसरे की अपेक्षा बिना श्रोता के चित्त को रंजित करता है।

" श्रुत्यनन्तरभावी य: स्निग्धोऽनुरणनात्मक: ।
स्वतो रंजयति श्रोतृचित्तं स स्वर उच्यते ।। " २

' संगीतरत्नाकर' में श्रुतियों से स्वरों को उत्पन्न बताया गया है। श्रुति प्रकरण में इसका उल्लेख किया जा चुका है।

" श्रुतिभ्य: स्यु: स्वरा : " ३

' स्वरमेलकलानिधि' में भी श्रुतियों से स्वरों (सा रि ग म प ध नि) की उत्पत्ति बताते हुये -

---

१- पा० शि० ४ पर पंजिका
२- सं० र० १।३।२४-२५ पृ० ८२
३- सं० र० १।३।२३ पृ० ७६

- स्वराध्याय -

'श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः ।'[१] कहा गया है । तथा 'श्रुत्यनन्तरभावी -- -- -- ' इत्यादि कहकर 'रत्नाकर' का ही अनुकरण किया है ।

'संगीतपारिजात' में 'स्वरों' को श्रुति के बाद उत्पन्न होने वाले, स्निग्ध अनुरणनात्मक, स्वयं रंजित होने वाले तथा श्रोताओं के चित्त को रंजित करने वाले, बताया गया है ।

'श्रुत्यनन्तरमुत्पन्नाः स्निग्धानुरणनात्मकाः ।
रंजयन्ति स्वतः स्वान्तं श्रोतृणामिति ते स्वराः ।।'[२]

गायनशास्त्रकार ने भी संगीतरत्नाकर का ही अनुकरण किया है ।[३]

स्वरों (अच्) को कहीं 'सिम्', कहीं यम, कहीं अक्षर संज्ञा भी दी गयी है ।-

'सिमादितोऽष्टौ स्वराणाम् ।।'[४]

'स्वरोऽक्षरम् ' ।।[५]

ऋग्वेद प्रातिशाख्य में - व्यंजन सहित, अनुस्वार सहित अथवा शुद्ध भी स्वर अक्षर संज्ञक होता है । बताया गया है ।

'सव्यंजनः सानुस्वारः शुद्धो वापि स्वरोऽक्षरम् '[६]

- -

१- स्वरमेलकलानिधि पृ० १५
२- संगीतपारिजात श्लोक ६२-६३ पृ० १५
३- गायनशास्त्र - पृ० १
४- वाजसनेयी प्रातिशाख्य १।४४ पृ० २८
५- वही १।९९ पृ० ५३
६- ऋग्वेद प्रातिशाख्य १८।३२ पृ० ८८०

- स्वराध्याय -

' सप्तस्वरा ये यमास्ते ।।' [१]

उपर्युक्त सूत्र में सात स्वरों को ' यम ' कहा गया है ।

' यम ' संज्ञा भाषात्मक स्वर के लिये नहीं अपितु संगीतात्मक स्वर के लिये प्रयुक्त की गयी है तथा ' सिम् ' और ' अदार ' संज्ञा भाषात्मक स्वर के लिये बतायी गयी है । ऋग्वेद प्रतिशाख्य में उदात्तानुदात्त स्वरित को को ' अदाराश्रया :' [२] बताया है । सम्भवत: ये भाषात्मक स्वर ही संगीतात्मक स्वर-रूप में क्रमश: परिवर्तित हुये होंगे, ऐसा प्रतीत होता है । ' स्वयं राजन्त इति स्वरा : ' इत्यादि स्वर की निरुक्ति भाषात्मक स्वर के सम्बन्ध में सर्व प्रथम वैयाकरणों ने की थी, इसे संगीतशास्त्रकारों ने संगीतात्मक स्वर के लिये प्रयुक्त किया । इसके साथ ही साथ ' अनुरणन ' श्रोताओं के चित्त का रंजन इत्यादि बातें भी सम्मिलित कर लीं । अर्थात् स्वयं रंजकत्व से युक्त एवं अतिरिक्त श्रोताओं का रंजन करना एवं अनुरणन से युक्त होना, संगीतात्मक स्वर के लिये विशेष बात हो गयी, जो भाषात्मक स्वर में आवश्यक नहीं है। अत: भाषात्मक एवं स्वरात्मक स्वर में अनुरणन के आधार पर मुख्यान्तर स्पष्ट है ।

स्वरों का विकास -

भाषात्मक एवं संगीतात्मक स्वरों का विवेचन करने के पश्चात् स्वरों के विकास-क्रम पर विचार करना प्रसंगानुकूल है । ' एकोऽहं बहु स्याम' की वेद-ध्वनि, स्वर विकास पर भी चरितार्थ होती है । वही एक नादात्मक ब्रह्म अनेक रूपों में व्यक्त होकर संगीत जगत् का आधार बना है।

१- ऋग्वेद प्रातिशाख्य १३।४४ पृ० ७११
२- वही ३।२ पृ० २१४

- स्वराध्याय -

संगीत का इतना विकसित रूप जो आज उपलब्ध है, उसे देखने सुनने पर हजारों वर्षों के मानव श्रम का अनुमान सहज हो जाता है ।

स्वरों के विकास में एक क्रम है, इस तथ्य का स्पष्टीकरण शिक्षा प्रातिशाख्य एवं संगीतग्रन्थों के अध्ययन से होता है। सामिक स्वर अवरोहात्मक हैं । अत: स्वरों का विकास 'उदात्त' से अनुदात्त की ओर हुआ होगा ऐसा अनुमान किया जा सकता है परम्परानुसार उदात्त स्वर का ही स्थान वर्णक्रम में भी प्रथम रक्खा गया है ।

यथा -

'उदात्तानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रय: स्वरा : ।'[१]

वैदिक ऋचाओं के अर्थ निर्धारण में भी उदात्त स्वर की भूमिका मुख्य है उदात्त स्वर का यथा स्थान प्रयोग न करने पर अर्थ का अनर्थ हो जाता है । इस तथ्य का संकेत शिक्षाओं में उपलब्ध होता है । यथा -

'मन्त्रो हीन: स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रु: स्वरतोऽपराधात् ।।'[२]

उदात्त स्वर के पश्चात् अनुदात्त स्वर प्रचार में आया। स्वरों के विकास क्रम में अनुदात्त का दूसरा स्थान है । लौकिक व्यवहार में भी यह अनुभव होता है कि व्यक्ति वाक्य की समाप्ति पर स्वर की तीव्रता के साथ-साथ 'तारता' में भी कमी ले आता है । सम्भवत: स्वर की तीव्रता की कमी

१- ऋग्वेद प्रातिशाख्य ३।१ पृ० २१३
२- ना०शि० १।१।५०

- स्वराध्याय -

को अनुदात्त रूप में ग्रहण किया गया होगा और इस प्रकार अनुदात्त स्वर ने विकास-क्रम में दूसरा स्थान प्राप्त किया होगा । स्वरों के इन दो किनारों के प्राप्त हो जाने के पश्चात् स्वर की मध्यावस्था का भी आभास हुआ होगा तथा स्वरित स्वर प्रकाश में आया होगा ।

उदात्तानुदात्त दो बिन्दुओं को स्वररूपी रेखा से मिला दिया जाय और दो भागों में बांटना हो तो एक मध्य बिन्दु की कल्पना करनी पड़ती है और यह मध्य बिन्दु ही उदात्तानुदात्त की सीमा निश्चित करता है। सम्भवत: आरम्भ में स्वरों की सीमा सुव्यवस्थित न रही होगी । स्वरित स्वर के प्रचार में आने पर, इस मध्यस्तरीय स्वर के कारण उदात्तानुदात्त का ध्वनिस्तर सुव्यवस्थित हो गया होगा। जब उदात्तानुदात्त ध्वनि के दो छोर प्राप्त हो गये तो मध्य स्थान निश्चित होना स्वाभाविक ही है ।

उपर्युक्त तथ्य के समर्थन में भरतभाष्य का निम्नलिखित व्यक्तव्य दृष्टव्य है ।

> स एक एव नाना-स्थान-भेदादुच्च-नीचादि-भेद-भिन्न: ।।
> उदात्त एवेत्येके । उदात्तानुदात्तावित्येको भंग-द्वय-अथाकरोत्।।
> स्वरित इति श्रीनयरे (?) तत: प्रचयं प्रचरीत (?)
> मन्त्रे -- -- -- मन्ये (?) निघात-स्वर-भित्तरे ।। [१]

अर्थात् वह एक ही (नाद) स्थान भेद से तथा उच्च नीचादि (तीव्रता) भेद से भिन्न-भिन्न है । पहला उदात्त इसके पश्चात् उदात्तानुदात्त दो प्रकार हुये फिर स्वरित मिलकर तीन हो गये । इसके पश्चात् प्रचय प्रचार में आया।

१- भ०भा० १ शिक्षाध्याय १।७०-७२ पृ०२३

- स्वराध्याय -

तत्पश्चात् निघात स्वर प्रचरित हुआ । इस प्रकार पांच स्वर प्रकाश में आये । स्वरों के इन पांच प्रकारों का विवेचन नारदीया शिक्षा में भी निम्नलिखित शब्दों द्वारा स्पष्ट किया गया है -

" उदात्तानुदात्तश्च स्वरित-प्रचयौ तथा ।
निघातश्चेति विज्ञेयः स्वरभेदस्तु पंचधा ।। "[१]

उपर्युक्त पंचस्वरों की संख्या, क्रुष्ट और अतिस्वार से मिलकर सात हो गयी इसका स्पष्टीकरण नान्यभूपाल के निम्नलिखित वचन से हो जाता है ।

" क्रुष्टातिस्वाराभ्यां सह सप्त सामगाः परिकल्पयन्ति।। "[२]

भरतभाष्य के सम्पादक पुण्डरीक देसाई के अनुसार सप्त-स्वर सम्बन्धी शोध अत्यधिक प्राचीन है । -

" यह सप्त-स्वर-शोध अत्याधिक प्राचीन है, क्योंकि यह सप्त-स्वर एवं तीन सप्तकों का निर्देश ऋक्प्रातिशाख्य (ख्रि०पू० ४०० के लगभग) आदि में स्पष्टतापूर्वक उपलब्ध है । "[३]

शिक्षा तथा प्रातिशाख्यादि में वर्णित त्रिविध स्वर, (Loudness) स्वरों की तीव्रता से सम्बद्ध जान पड़ते हैं । -

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः।।[४]

इन तीनों स्वरों को अक्षराश्रित बताया गया है ।

" अक्षराश्रयाः "[५]

१- ना०शि० १।७।९
२- भ०भा० १ २।७४ पृ०२३
३- भ०भा० टीका पृ० २४
४- ऋ०प्रा० ३।१ पृ०२१३
५- ऋ०प्रा० ३।२ पृ०२१४

- स्वराध्याय -

अर्थात् उदात्तादि स्वर अक्षरों पर आश्रित हैं। अक्षरों से तात्पर्य स्वर वर्णों से है व्यंजन वर्णों से नहीं जैसा कि उव्वट के निम्नलिखित वक्तव्य से स्पष्ट है ।

"स्वराणामक्षरैः धर्मधर्मिसम्बन्धो न तु व्यंजनैः ।[1]

अर्थात् उदात्तादि स्वर धर्म स्वर वर्णों के हैं, व्यंजन वर्णों के नहीं । व्यंजन वर्णों का धर्म हो भी नहीं सकता क्योंकि व्यंजन वर्णों का उच्चारण स्वर वर्णों के बिना नहीं हो पाता ।[2] अतः उच्चारणाभाव में उदात्तादि धर्म किसके होंगे ? चूंकि अक्षरों का उच्चारण सम्भव है अतः उन्हीं (अ ई इत्यादि स्वर वर्ण) के उदात्तादि धर्म हैं । अक्षर जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, नित्य है ।[3] अतः स्वर वर्ण अक्षर है , व्यंजन नहीं । उदात्तादि धर्म भी अक्षरों के नित्य होने से नित्य हैं क्योंकि इनका धर्मधर्मी सम्बन्ध उव्वट ने बताया है ।

वास्तव में उदात्तादि संज्ञायें भाषात्मक थीं । इनका व्यवहार भाषा के सन्दर्भ में किया जाता था । उदात्तादित स्वर पाठ्य स्वरों का अंग बने हुये थे जो भाषात्मक एवं गेयात्मक स्वरों के मध्य की स्थिति थी । अनुरणन का, जो गेय स्वरों का मुख्य तत्त्व है, अभाव होने से उदात्तादि को गेय स्वर नहीं माना गया किन्तु जब ऋचाओं के गायन का विधान होने लगा तब सम्भवतः उदात्तादि स्वर सांगीतिक स्वरों में परिणत हो गये ।

१- उव्वट भाष्य ऋ०प्रा० ३।२ पृ० २१४
२- संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ - पृ० १११५
३- वही - पृ० ७

- स्वराध्याय -

उपर्युक्त तथ्य भरतभाष्य के सम्पादक के निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है -

" जब इन ऋचाओं को साम-गीतों के रूप में गाने लगे, तब गद्य-स्वराघातों की उच्च नीचता सांगीतिक स्वरों की उच्च नीचता में परिणत हो गयी ।[1]

उपर्युक्त तथ्य नारदीया शिक्षा के निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट है ।

" उदात्ते निषादगांधारावनुदात्त ऋषभधैवतौ ।
स्वरित प्रभवा ह्येते षड्ज मध्यमपंचमा: ।।[2]

अर्थात् उदात्त में निषाद, गान्धार अन्तर्निहित है । अनुदात्त में ऋषभ, धैवत् और स्वरित से षड्ज, मध्यम, पंचम की उत्पत्ति होती है ।

शिक्षाओं तथा प्रातिशाख्यों इत्यादि ग्रन्थों में स्वरसंख्या सम्बन्धी बहुत भ्रान्तियां दृष्टिगोचर होती है । उदात्तादि स्वरों के ही और भेद क्रमश: विकसित हुये और इनकी तीन से सात संख्या हो गयी । पतंजलि ने स्वरों की सात संख्या निर्दिष्ट की है ।

" सप्त स्वरा भवन्ति उदात्त: उदात्ततर: अनुदात्त :
अनुदात्ततर: स्वरित: स्वरिते य उदात्त: सोऽन्येन
विशिष्ट: एक श्रुति सप्तम: ।।" [3]

किन्तु वास्तव में ये सातों स्वर उदात्तादि तीन स्वरों के ही विभेद हैं । पतंजलि द्वारा निर्दिष्ट 'उदात्ततर' और 'स्वरित' से पूर्व में स्थित 'उदात्त' उदात्त के ही विभेद हैं । 'एक श्रुति' का उच्चारण उदात्त के समान किया जाता है। स्वरित से परे अनुदात्त स्वर आने पर 'एक श्रुति हो जाता है । अत: अनुदात्त या उदात्त से भिन्न 'एकश्रुति' कोई भिन्न

- -

१- भरतभाष्य टीका पृ०२४
२- ना०शि० १।८।८ पृ० ४६
३- पतंजलि महाभाष्य १।२।३३

- स्वराध्याय -

स्वर नहीं है। अतः मुख्य स्वर तीन ही - उदात्त, अनुदात्त स्वरित हैं। इस तथ्य की पुष्टि में डा० बी०के०वर्मा के निम्नलिखित वाक्य द्रष्टव्य है -

" ध्यानपूर्वक विचार करने से विदित हो जाता है कि मुख्य स्वर तीन ही है - 'उदात्त', 'अनुदात्त' और 'स्वरित' ।।" [१]

युधिष्ठिर मीमांसक ने उदात्तादि सात स्वरों के भिन्न नाम षड्जादि अथवा क्रुष्टादि होने की सम्भावना निम्नलिखित शब्दों में की है।

" सम्भव है उदात्तादि सात स्वर ही सामगान में षड्जादि अथवा क्रुष्टादि नाम से व्यवहृत होते हों।" [२]

भरतभाष्यकार ने पांच स्वरों को बताकर, वे ही सात स्वर हैं ऐसा निर्देश किया है। -

अत्युदात्त उदात्तश्चानुदात्तात्यनुदात्तकः ।
स्वरितश्चेति भेदाः स्युस्तथा सप्तस्वरा अमी ।। [३]

अर्थात् अत्युदात्त, उदात्त, अनुदात्त, अत्यनुदात्त तथा स्वरित हैं और ये ही सात स्वर हैं।

पतंजलि द्वारा बताये गये सातों स्वरों में से अन्तिम दो का स्वतन्त्र अस्तित्व न होने से ही सम्भवतः उनका नाम निर्देश नान्यभूपाल ने नहीं किया ~~और~~ प्रत्युत उनका सप्त स्वर होना स्पष्ट किया है। नान्यभूपाल द्वारा बताये, 'अत्युदात्त', 'अत्यनुदात्त' पतंजलि द्वारा निर्दिष्ट 'उदात्ततर', 'अनुदात्ततर' के ही तुल्य हैं।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की टीका में उच्चतर आदि का अन्तर्भाव उदात्त में होता है, यह निर्दिष्ट किया गया है। अतः स्पष्ट है कि

- -

१- ऋ०प्रा० टिप्पणी पृ०२१३
२- 'वैदिक स्वर मीमांसा' पृ०१२
३- भ०भा० १ २।८० पृ०२८

- स्वराध्याय -

उदात्तादि ही तीन मुख्य स्वर है । -

' उच्चतराद्य उदात्तेऽन्तर्भवन्ति । ' १

यद्यपि संगीत में सात स्वर बताये गये हैं किन्तु वास्तव में तीन ही स्वर हैं । द्विश्रुतिक, त्रिश्रुतिक एवं चतुःश्रुतिक स्वर । क्रमशः ग रे सा इनका दूसरा त्रिक नि, ध, प है । मध्यम बीच का स्वर है । जो इन दो त्रिकों को जोड़ता है सम्भवतः इसी कारण इसका मध्यम नाम है । पहले त्रिक में जो ग का स्थान है वही स्थान दूसरे त्रिक में नि का है । २ सामिक स्वर-सप्तक चूंकि अवरोही था अतः तारता के दृष्टिकोण से इनका स्थान एक है और ये (ग नि) अन्य दो स्वरों क्रमशः रेसा , धप से ऊंचे हैं अतः इन्हें उदात्त बताया गया है । इस स्वर युग्म के पश्चात् ऋषभ धैवत को अनुदात्त बताया गया है,जो स्वरों के अवरोही क्रम में गनि युग्म की तुलना में अनुदात्त ही ठहरते हैं । अर्थात् उदात्त के पीछे हैं । इस दृष्टिकोण से शिक्षाओं में वर्णित -

' उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्त ऋषभधैवतौ । ' ३

उचित है।

स्वरों की अवरोहात्मक स्थिति के अनुसार षड्ज अनुदात्त (रे) और उदात्त (नि) के मध्य में है । अतः स्वाभाविक है कि इसमें उदात्त व अनुदात्त ध्वनि का मेल हुआ होगा, जिससे षड्ज को स्वरित की कोटि में रक्खा गया होगा । जब गान्धर्व वेद में क्रुष्टादि वैदिक स्वरों की षड्जादि क्रम में (आरोही क्रम में) स्थापना की गयी होगी तब पंचम उदात्त (ग) और अनुदात्त (ध) के बीच में होगा इसमें उदात्त और अनुदात्त दोनों के गुण

- -

१- तै०प्रा० टीका

२- ध, नि, प को सुविधा के लिये नि ध प माना गया है

३- पाणिनी शिक्षा श्लोक १२

होंगे इसके कारण इसे स्वरित कहा गया होगा । मध्यम को सम्भवत: इन दोनों त्रिकों की मध्यस्थता करने के कारण स्वरित कहा गया होगा। उपर्युक्त दृष्टिकोण से "स्वरित प्रभवा ह्यते षड्ज मध्यम पंचमा:" वर्णन, वैदिक स्वरों का लौकिक स्वरों में परिवर्तन के दृष्टिकोण से उचित जान पड़ता है।

अत: स्पष्ट है कि मूलत: स्वर तीन ही हैं सा रे ग या प ध नि । वैदिक स्वरों के सन्दर्भ में उदात्तानुदात्तस्वरित । भाषात्मक स्वरों की दृष्टि से अ इ उ (अ इ उ ण्) चौदह माहेश्वर सूत्रों में से एक) शेष सभी स्वर इनके ही विभेद हैं ।

तीन स्वरों के समर्थन में अभिनव गुप्त के निम्नलिखित वचन पठनीय हैं -

"तेन परमार्थत: त्रय एव स्वरा: - सरिगा: पधनय : ।
मध्यमस्तु ध्रुवकस्थानीयो मध्यमत्वादेव ।।" १

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मुख्यत: स्वर तीन ही हैं, अत: शिक्षादि ग्रन्थों में मुख्यत: तीन स्वरों का ही विवेचन किया गया है तथा इन तीन स्वरों में ही सातों स्वरों का होना बताया गया है -

"गान्धर्ववेदे ये प्रोक्ता सप्त षड्जादय: स्वरा: ।
त एव वेदे विज्ञेयास्त्रय उच्चादय: स्वरा: ।।
उच्चौ निषादगांधारौ नीचावृषभधैवतौ ।
शेषास्तु स्वरिता ज्ञेया: षड्ज-मध्यम-पंचमा: ।।" २

१- ना०शि० अभिनवगुप्त टीका पृ० १४
२- पा०शि० श्लोक ६-७ पृ०४

- स्वराध्याय -

नारदीया शिक्षा में उदात्त अनुदात्त स्वरित ये तीन ही आर्चिक अर्थात् ऋग्वेदीय स्वर बताये गये हैं ।

अतऊर्ध्वं प्रवक्ष्याम्यार्चिकस्यस्वरत्रयम्
उदात्तश्चानुदात्तश्च तृतीयः स्वरितः स्वरः ।[१]

याज्ञवल्क्य में शिक्षा में भी तीन उदात्तानुदात्त स्वरित का विवेचन किया गया है ।

" उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च तथैव तत् ।" २

शौनकीय शिक्षा में उदात्तादि तीन स्वरों के अतिरिक्त प्रचय स्वर बताया गया है , जो वास्तव में अनुदात्त स्वर ही है ।

" उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः प्रचयस्तथा ।।" ३

" प्रचय उदात्त अनुदात्त से हटकर कोई अलग स्वर नहीं है इसी कारण पाणिनि शिक्षा तथा व्याकरण ग्रन्थों में तीन ही स्वर बताये गये हैं । वाजसनेयी प्रातिशाख्य में स्वरित से परेअनुदात्त स्वर उदात्तमय (प्रचय) हो जाता है।

" स्वरितात् परमनुदात्तमुदात्तमयम् ।।[४]

उदात्त वास्तव में प्रचय (प्रचित) और एक श्रुति का ही पर्याय है यह तथ्य उव्वट के निम्नलिखित शब्दों से स्पष्ट है ।

" उदात्तमयं प्रचितमेकश्रुतीति पर्यायः ।।" ५

पाणिनि ने " प्रचय " को एकश्रुति शब्द से कहा है -

" एकश्रुतिदूरात्सम्बुद्धौ ।" ६

१- ना० शि० १।८।१
२- या० शि० श्लोक १ पृ० ३
३- शौनक शिक्षा श्लोक ४ पृ० ६
४- वाजसनेयी प्रातिशाख्य ४।१४१।
५- वही उ० पृ० २६७
६- पाणिनि सू० १।२।३३

- स्वराध्याय -

स्वराष्टक शिक्षा में उदात्तानुदात्त स्वरित तथा प्रचय मिलाकर चार स्वर कहे गये हैं।

"उदात्तानुदात्तस्वरित प्रचयाः स्वराः।" १

माण्डूकी शिक्षा में भी प्रचय सहित चार स्वरों का निर्देश किया गया है

"उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः प्रचयस्तथा।
चतुर्विधः स्वरो दृष्टः स्वरचिन्ताविशारदैः
स्वरितात्पराणि यानि स्युरनुदात्तानि कानिचित्।
सर्वाणि प्रचयं यान्ति तपोदात्तं न विद्यते।।" २

माण्डूक के अनुसार स्वरित के बाद में जितने भी अनुदात्त हैं वे प्रचय हो जाते हैं वास्तव में प्रचय उदात्तानुदात्त स्वरित से अलग कोई स्वर नहीं है।

स्वरांकुशशिक्षा में उदात्त से परे अनुदात्त जो स्वरित बन गया हो, ऐसे स्वरित से परे अनुदात्त को प्रचय बताया गया है। इससे स्पष्ट है कि प्रचय मूलतः अनुदात्त स्वर ही है।

"उदात्तन्निहितः स्वारः स्वरितात्प्रचयो भवेत्।।" ३

कोहलीय शिक्षा में भी प्रचय सहित चार स्वर बताये गये हैं।

"उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः प्रचयस्तथा।
इति चत्वारःभागो हि स्वराः प्रोक्ता मनीषिभिः।।
-- -- -- -- -- -- -- -- -- -- -- -- --

प्रचयः कथ्यते सद्भिरुदात्तसदृशः श्रुतिः।।" ४

कोहल के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रचय की ध्वनि उदात्त सदृश होती है।

~~१- पाणिनि ल० २।२।३३~~
१- स्वराष्टक शिक्षा - १
२- माण्डूकी शिक्षा श्लोक ५, ७
३- स्वरांकुश शिक्षा श्लोक १
४ — कोहलीय शिक्षा

अत: स्पष्ट है कि मूलत: उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तीन ही स्वर हैं ।

नारदीया शिक्षा में निम्नलिखित पांच स्वर बताये गये हैं , जो वास्तव में तीन ही हैं ।

> उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरित प्रचिते तथा ।
> निघातश्चेति विज्ञेया स्वर भेदस्तु पंचधा ।। ' [1]

ये तीन स्वर ही वास्तव में किसी विशेषता से युक्त होने पर पांच कहे जाते हैं । यह तथ्य भट्टशोभाकर की टीका से स्पष्ट है । -

> ' स्वर संपद एतावड् गानादिविषये उदात्तादिविषये
> उदात्तादयस्त्रय: केनचिद्विशेषेण पंचत्वेनोच्यते ।।
> -- -- -- -- प्रचये परत:स्थिते स्वरितस्याहननान्निघात: ।।[2]

नारदीया शिक्षा में 'प्रचय' के सन्दर्भ में निम्नलिखित श्लोक दृष्टव्य हैं ।

> ' य एवोदात्त इत्युक्त: स एव स्वरितात्पर: ।
> प्रचय: प्रोच्यते तज्ज्ञैर्न चात्रान्यत् स्वरान्तरम् ।। '[3]

अर्थात् जिसे उदात्त तथा स्वरित से परे प्रचय कहा गया है, उसे अन्य स्वर नहीं समझना चाहिये ।

इस सन्दर्भ में ऋग्वेदीय प्रातिशाख्य में प्रचय को कहीं उदात्त कहीं अनुदात्त उच्चारण परिस्थितिवशात् बताया गया है ।[4]

प्रचय जहां हो वहां स्वरों के प्रयोग सम्बन्धी विवरण नारदीया शिक्षा में स्पष्ट करते हुये स्वरित से परे प्रचयस्थानस्थ उपोदात्त का अनुदात्त उच्चारण होता है, बताया गया है।

- -

१- ना०शि० १।७।१६
२- वही टीका १। पृ० ४३
३- ना०शि० 1/8/2
४- ऋ०प्रा० ३।१६-२२

इसके अतिरिक्त प्रचय जहां होता है वहां स्वर का अहनन होता है । केवल स्वरित हो तो, उसका मृदु उच्चारण होता है ।

"स्वरितात्पराणि यानि तानि स्युर्यदिदाराणि तु ।
स्वर्गाणि प्रचयस्थान्युपोदात्तं निहन्यते ।। 1
प्रचयो यत्र दृश्येत तत्र हन्यात्स्वरं बुधः।
स्वरितः केवलो यत्र मृदुं तत्र निपातयेत् "।।[1]

उपर्युक्त नारदीया शिक्षा के विवेचन से स्पष्ट है कि प्रचय तथा निघात उदात्त अनुदात्त स्वरित से अलग स्वर नहीं है । निघात शब्द के सन्दर्भ में डा० मधुकर का वक्तव्य पठनीय है उनके अनुसार निघात शब्द से अनुदात्तस्वर जानना चाहिये -

"यद्यप्यत्र निघातस्य स्वरूपं नोक्तं तथापि अनुदात्तस्वरस्यैव
निघातशब्देन ग्रहणं बोध्यम् निघातशब्दस्य योगमर्यादया।
-- -- -- --- -- -- -- -- इत्थं च निघातस्यापि।
अनुदात्ते एव अन्तर्भाव इति स्वरत्रयमेव अवतिष्ठते" ।।[2]

शिक्षा ग्रन्थों में जहां कहीं भी स्वरों का विवेचन तीन चार , पांच सात इत्यादि हुआ है, वह वास्तव में तीन उदात्तानुदात्त स्वरित के ही विभेद हैं ।

शिक्षा ग्रन्थों के अतिरिक्त प्रातिशाख्यादि अन्य ग्रन्थों में भी तीन स्वरों का प्रतिपादन किया गया है । शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य में निम्न-लिखित तीन स्वर बताये गये हैं ।

"उच्चैरुदात्तः ।। नीचैरनुदात्तः उभयवान् स्वरित : ।"[3]

- -

1- ना०शि० 2।7।7-8
2- पा०शि०शि०स० पृ० 85-86
3- शु०य०प्रा० 1।108-110

- स्वराध्याय -

अथर्ववेदीय चतुरध्यायिका में भी निम्नलिखित तीन स्वर ही बताये गये हैं ।

'अकारमुच्चैरुदात्तं नीचैरनुदात्तमाक्षिप्तं स्वरितं ।।' [१]

'स्वरलक्षणम्' ग्रन्थ में तीन स्वरों की ही चर्चा की गयी है -

'उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च तथैव च ।।' [२]

आथर्वण प्रातिशाख्य से भी तीन ही स्वरों की पुष्टि होती है -

'उच्चैरुदात्त: । नीचैरनुदात्त: समाहारस्वरित: ।।' [३]

उपर्युक्त कुछ उदाहरणों से स्पष्ट है कि मुख्यत: तीन ही स्वर हैं । किन्तु उदात्त औरअनुदात्त स्वर का उदात्तत्व और अनुदात्तत्व का आधार क्या है ? अनुदात्त की तुलना में उदात्त ऊंचा है और उदात्त की तुलना में अनुदात्त नीचा है । 'समाहार : स्वरित: 'उभयवान् स्वरित:' अर्थात् उदात्त और अनुदात्त दोनों के अपने व्यक्तित्व की समाप्ति अर्थात् उदात्तानुदात्त कीइति के पश्चात् स्वरित स्वर का अस्तित्व होता है।हमारी विनम्र सम्मति में स्वरित आधार स्वर है , जो बराबर बना रहता है । वैसे आजकल भी गायन अथवा वादन में एक आधार स्वर होता ही है। स्वरित स्वर सा, म, प , बताये गये हैं। तानपूरा भी सा, प में ही अधिकतर मिलाया जाता है । मध्यम को षड्ज मानकर भी गायन कर लिया जाता है षड्ज (स्वरित) तो सभी रागों के गायन के लिये तानपूरे में अवश्य मिलाते हैं। आजकल षड्ज पंचम (स्वरित) को अचल स्वर कहा जाता है । क्योंकि रे ग ध नि म की तरह इनकी विकृतावस्था नहीं होती है। सा प को Drone स्वर कह सकते हैं ।

- -

१- कौत्सव्याकरणम (चतुरध्यायिका) पृ० १
२- स्वरलक्षणम् पृ० १
३- आथर्वण प्रा० पृ० १

- स्वराध्याय -

उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि परांजपेजी के निम्नलिखित वक्तव्य से स्पष्ट है ।

"साम के अन्तर्गत स्वर की समृद्धि तथा सम्यक् निर्वाह के लिये उपगायकों की योजना साम संगीत में हुई, जिनका कार्य मन्द्र स्वर से उपगान करना रहा है ।[1]

यद्यपि आजकल सात मुख्य स्वर संगीत में प्रयुक्त होते हैं लेकिन ध्वनिशास्त्र (Acoustics) की दृष्टि से विचार किया जाय तो तीन ही अन्तराल मूल रूप से संगीत में प्रयुक्त होते हैं, जो ६।८, १०।९ तथा १६।१५ हैं, जिन्हें क्रमश: ५१, ४६ तथा २८ सेवर्ट का माना गया है ।[2]

उदात्त अनुदात्त स्वरित से तात्पर्य सम्भवत: मन्द्र, मध्य, तार स्थान से भी रहा हो । ये स्थान तारता के साथ-साथ तीव्रता से भी गौण रूप में जुड़े हैं। स्वरित के ही कहीं ६ कहीं सात कहीं आठ भेद बताये गये हैं। सप्त स्वरितों का विवेचन ही अधिकतर प्राप्य हैं । पाणिनी ने भी उदात्त को ऊंचा अनुदात्त को नीचा तथा स्वरित को मध्यस्थानीय बताया है। -

"उच्चैरुदात्त: " । नीचैरनुदात्त: । समाहार: स्वरित:[3]

नारदीय शिक्षा में उच्च नीच के मध्य में स्थित साधारण श्रुति को स्वरित बताया गया है ।[4]

"उच्चनीचस्य यन्मध्ये साधारणमिति श्रुति: ।
तं स्वारं स्वारसंज्ञायां प्रति जानन्ति शैक्षिका: ।।[5]

१- भा० सं० इतिहास पृ०८१
२- ललित किशोर सिंह – 'ध्वनि और संगीत'
३- पाणिनि अष्टाध्यायी
४- ना० शि० १।८।७

- स्वराध्याय -

भट्टशोभाकर की टीका से स्पष्ट होता है कि उदात्तादि में षड्जादि का अनुगम होता है।

' उदात्तानुदात्त च स्वरितेऽपि षड्जाद्यनुगमो
भेदे सतिस्वरितस्य भवत्युच्यते । [1]

उपर्युक्त 'स्वरितेऽपि' षड्जाद्यनुगमो दृष्टव्य है। स्वरित में भी षड्जादि अर्थात् सप्त स्वर का अनुगम होता है। स्वरितेऽपि से स्पष्ट है कि उदात्तानुदात्त में भी षड्जादि सात स्वर है। जैसाकि आजकल के संगीत में मन्द्रस्थानीय (अनुदात्त) सातस्वर मध्यस्थानीय (स्वरित) एवं तारस्थानीय (उदात्त) सात स्वर हैं।

'वैदिक-पद-विज्ञान' के शोधकर्ता के अनुसार उदात्तानुदात्त स्वरित के उच्चारण स्थान क्रमश: शिर, हृदय और कण्ठ हैं।

'अस्यतात्पर्यम् अनुदात्त स्वरस्योच्चारणं हृदयत: ,उदात्तस्वस्योच्चारणम् शिरस: मूर्धात:, स्वरितस्वरस्योच्चारणं कण्ठश्च भवति ।।' [2]

जिन ऋग्वेदीय मन्त्रों के गायन को साम बताया गया है, उस ऋग्वेदीय प्रातिशाख्य में भी इन तीन स्थानों में सात-सात स्वर बताये गये हैं।

' त्रीणि मन्द्रं मध्यमुत्तमं च
स्थानान्याहु : सप्तमानि वाच : [3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मूलत: स्वर तीन ही माने गये हैं।

' वैदिक-पद-विज्ञान' के शोधकर्तानुसार मूलत: उदात्तानुदात्त स्वरित तीन ही स्वर हैं -

- -

१- भट्टशोभाकर टीका १।८।७ पृ०४५
२- ' वैदिक-पद-विज्ञानम् शोधप्रबन्ध पृ० २५०
३- ऋ०प्रा० १३।४२ पृ०७१०

- स्वराध्याय -

एवमशीति संख्याकारणं स्वराणां स्वरमण्डलं सामवेदस्य गानपाठे प्रयुज्यते परंचेदमवधेयं यत् सर्वेषामेव गानस्वराणां मूलभूता उदात्तानुदात्त-स्वरितास्त्रयः स्वरा एव सन्ति ।[१]

इसलिये यह विचारणीय है कि क्या वास्तव में वैदिक स्वर संगीतात्मक थे ?

संगीत के सात स्वर आरम्भ से रहे हों ऐसा नहीं माना जा सकता । प्रारम्भिक काल में तो भाषात्मक एक ही स्वर रहा होगा तत्पश्चात् संगीतात्मक स्वरों का विकास हुआ होगा। मुख्यरूप से तीन ही स्वरों पर संगीतिक स्वर-विकास का प्रथम-पड़ाव रहा है। न केवल भारतीय वाङ्मय में त्रिस्वर चर्चा प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है, अपितु पश्चिमी संगीत भी इस त्रिस्वर व्यवस्था से आरम्भ हुआ है विशेष कर यूनानी युग में तो तीन और फिर चार स्वरों से ही संगीत का विकास देखा जा सकता है ।

वैदिक उदात्तानुदात्त स्वरित, स्वर त्रिक वेदों के संगीतात्मक स्वरूप का परिचायक है, जो संगीत विकास के बाल्यकाल माने जा सकते हैं। तीन स्वरों का गायन आज भी साम गायकों द्वारा (जो अब दुर्लभ है) सुना जा सकता है। भले ही वह पाठ्यरूप ही प्रतीत होता है तथा अनेक आदिवासियों द्वारा प्रयुक्त संगीत में भी इस त्रिस्वरात्मक पंच और सप्त स्वर संगीत के अभ्यस्त होने के कारण इस त्रिस्वर संगीत को संगीत न कहकर पाठ्य ही मानें किन्तु तीन स्वर से ही भाषा और पाठ, संगीत के क्षेत्र में प्रवेश कर जाते हैं । वेदों में तीन स्वरों का होना ही उनके संगीतात्मक होने का प्रमाण है । शिक्षादि ग्रन्थों मे तो तीन से अधिक स्वरों का होना ही उनके संगीतात्मक होने का प्रमाण है । शिक्षादि ग्रन्थों में तो

१- 'वैदिक-पद-विज्ञानम्' पृ० २५२

- स्वराध्याय -

तीन से अधिक स्वरों का विधान स्पष्टत: होने से उसके संगीतात्मक स्वरूप की पुष्टि हो जाती है। डा० के०सी०पांडे ने गान्धर्व (साम का उपवेद) में अनेक संगीत गायकों की परम्परा का स्पष्ट उल्लेख किया है तथा दूगट का मत भी यही है कि - वेद पाठ तथा स्तोत्र गायन में संगीत सम्बन्ध था ।[१] सामान्य दृष्टि से भी यह बात समझी जा सकती है कि त्रिस्वर पाठ्य में संगीतात्मकता अनिवार्य रूप में आ जाती है । अत: वैदिक स्वरों का संगीतात्मक स्वरूप निर्विवाद कहा जा सकता है। डा० विजयपालसिंह ने भी इसे मानते हुये -

"वैदिक स्वरो मूलत: संगीतात्मक आसीद ।।[२]

कहकर सकारात्मक वक्तव्य ही प्रस्तुत किया है । प्रातिशाख्यादि के विशेष अनुभवी डा० वर्मा ने इसे आरोहावरोह से युक्त संगीत का प्रारूप बताते हुये, वैदिक स्वरों के संगीतात्मक होने का ही समर्थन किया है ।

"यह पाठ उच्चारण मात्र नहीं है, अपितु आरोहतथा अवरोह से युक्त एक प्रकार के संगीत का प्रारूप है ।[३]

उदात्तादि में सप्त स्वरों के अन्तर्भावों के प्रकार -

पूर्व में यह स्पष्ट हो चुका है कि मूलत: मुख्य स्वर तीन ही हैं किन्तु संगीताकाश में सप्त स्वर निनादित हो रहे हैं । शिक्षा प्रातिशाख्यादि ग्रन्थों के मनन से स्पष्ट हो जाता है कि उदात्तादि तीन स्वरों मे ही सातों स्वरों को समाहित किया गया है । इन सप्त स्वरों का तीन प्रकार का उदात्तादि में अन्तर्भाव देखने में आया है, जिनका क्रमश: विवेचन निम्नलिखित है।

१- स्वतन्त्र कला शास्त्र भाग - १

२- "अष्टाध्यायी-शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्योर्मतविमर्श:" पृ० १८५

३- ऋ०प्रा० एक परिशीलन" पृ०२४२

- स्वराध्याय -

१- प्रथम प्रकार -

प्रथम प्रकार के अन्तर्गत रे ध अनुदात्त ग, नि, उदात्त तथा सा, म, प को स्वरित बताया गया है। इस तरह का उदात्तादि में स्वरों का बँटवारा अधिकांश शिक्षा ग्रन्थों में उपलब्ध है । ऋग्वेदीय पाणिनि शिक्षा का कथन निम्नलिखित है -

> " उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्त ऋषभधैवतौ ।
> स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपंचमा: ।।"[1]

उपर्युक्त श्लोक सामवेदीया नारदीया शिक्षा में भी देखा जा सकता है (१।८।८ ना०शि०)

याज्ञवल्क्य ने भी इसी तथ्य का स्पष्टीकरण निम्नलिखित शब्दों में किया है।

> " उच्चौ निषादगान्धारौ नीचावृषभधैवतौ ।
> शेषास्तु स्वरिता ज्ञेया: षड्जमध्यमपंचमा: ।। [2]

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार सांगीतिक षड्जादि स्वरों की उदात्तादि स्वरों में व्यवस्था निम्नलिखितानुसार होगी । -

सा	रे	ग	म	प	ध	नि
स्वरित	अनुदात्त	उदात्त	स्वरित	स्वरित	अनुदात्त	उदात्त

नान्यदेव ने षड्ज को निघात रिषभ को अनुदात्त , सन्नतर, गान्धार को उदात्त, मध्यम को स्वरित पंचम को प्रचय, धैवत को अनुदात्त तथा निषाद को " अत्युदात्त " बताया है ।[3]

नान्यदेव का उपर्युक्त सप्तस्वरान्तर्भाव शिक्षादि में वर्णित अन्तर्भाव से अधिकांश रूप में साम्य रखता है। ग नि को क्रमश: उदात्त अनुदात्त बताया है।

- -

१- पाणिनि शिक्षा - श्लोक १२
२- या०शि० (शि०सं०) पृ०४
३- भ०भा० १ (शि०अ० २।८४-८६

अत्युदात्त , उदात्त के ही अन्तर्गत है । ग से नि उदात्ततर (सप्त-स्वर क्रम में) है भी, रे तथा ध को क्रमश: अत्यनुदात्त , अनुदात्त बताया गया है । सप्तर स्वरों के क्रम में, धैवत से ऋषभ अत्यनुदात्त है भी । शिक्षा ग्रन्थों में भी ग नि उदात्त और रे ध अनुदात्त ही बताये गये हैं । मध्यम पंचम और षड्ज के सन्दर्भ में नान्यदेव का विवेचन शिक्षा ग्रन्थों से कुछ अलग है । नान्यदेव ने षड्ज को ' निघात ' बताया है यह पूर्व ही स्पष्ट किया जा चुका है कि निघात ' अनुदात्ततर है सप्त स्वर क्रम में षड्ज अनुदात्ततर ही कहा जा सकता है अनुदात्तम इसलिये नहीं कह सकते कि उससे (षड्ज से) भी नीची ध्वनि हो सकती है। मध्यम को स्वरित बताया है। सप्त स्वरों में मध्यम: मध्यवर्ती स्वर है भी । ' स्वरित ' स्वर को उदात्तानुदात्त के सन्दर्भ में मध्यस्तरीय स्वर कहा भी गया है । अत: मध्यम को स्वरित कहना उचित ही है । किन्तु ' पंचम ' को 'प्रचय' कहा है । प्रचय की ध्वनि जैसाकि पूर्व ही स्पष्ट किया जा चुका है कि कहीं उदात्त कहीं अनुदात्त बतायी गयी है । उदात्त से तात्पर्य सम्भवत: षड्जग्रामीय चतु:श्रुतिक पंचम से और उसी की तुलना में अनुदात्त अर्थात् मध्यमग्रामीय त्रिश्रुतिक पंचम से सम्भवत: रहा हो । ऐसा प्रतीत होता है कि नान्यभूपाल ने उपर्युक्त अन्तर्भाव सप्त स्वरों के षड्ज तथा मध्यमग्रामीय दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। नान्यभूपाल द्वारा प्रदर्शित उदात्तादि में सप्त स्वरों का अन्तर्भाव निम्नलिखित है ।

षड्ज	ऋषभ	गान्धार	मध्यम	पंचम	धैवत	निषाद
निघात	अत्यनुदात्त	उदात्त	स्वरित	प्रचय	अनुदात्त	अत्यनुदात्त
	सन्नतर					

अत: यह कहने में आपत्ति नहीं है कि ' भरतभाष्य में वर्णित अन्तर्भाव प्रकार शिक्षादि में वर्णित अन्तर्भाव के अनुकूल है । भरतभाष्यकार ने शिक्षादि में वर्णित अन्तर्भाव प्रकार का निम्नलिखित श्लोकों में अनुमोदन ही किया है ।

- स्वराध्याय -

"स्वरौ निषादगान्धारावुदात्तावितिकीर्तितौ ।
अनुदात्तौ तु विज्ञेयौ स्वरावृषभधैवतौ ।।"
त्रयः स्वरितसंज्ञाश्च षड्ज-मध्यम-पंचमाः ।[1]

द्वितीय प्रकार -

दूसरे प्रकार का अन्तर्भाव बहुत ही सीधा है । इसमें क्रमशः स्वरों की तारता के अनुकूल उदात्तानुदात्तादि में स्वरों का अन्तर्भाव बताया गया है । निम्नलिखित चार्ट से यह सुगमतापूर्वक समझा जा सकता है।

षड्ज	ऋषभ	गान्धार	मध्यम	पंचम	धैवत	निषाद ।
अनुदात्त	अनुदात्त	उदात्त	उदात्त	स्वरित	स्वरित	स्वरित [2]

अनुदात्त से ऊँचा उदात्त उदात्त से ऊँचा स्वरित है । स्वरित को उदात्तानुदात्त का "समाहार" "उभयवान्" इत्यादि बताया गया है । अर्थात् दोनों का मिश्रण बताया गया है । किन्तु स्वरित का आधा भाग उदात्त से उदात्ततर उच्चरित होता है। इस तथ्य की पुष्टि ऋग्वेद के निम्नलिखित सूत्र से स्पष्ट है -

"तस्योदात्ततरोदात्तदर्धमात्रार्धमेव ।[3]

शेष स्वरित के आधे भाग की ध्वनि उदात्त होती है, यदि स्वरित के पश्चात् उदात्त या स्वरित न हो । इसके समर्थन में सूत्र निम्नलिखित है।

"अनुदात्तः परः शेषः स उदात्तश्रुतिः।
न चेत् उदात्तं वोच्यते किंचित्स्वरितं वाक्षरं परम् ।[4]

१- म०भा० (शि०अ०) २।८३ व ८४ का पूर्वार्ध पृ० २६
२-
३- ऋ०प्रा० ३।४
४- ऋ०प्रा० ३।५-६

- स्वराध्याय -

उपर्युक्त सूत्रों से यह स्पष्ट है कि स्वरित स्वर की ध्वनि अनुदात्त और उदात्त से भी ऊंचे स्तर (तारता) की है। अत: परिशिक्षा द्वारा दिया गया निम्नलिखित उदात्तादि स्वरों में षड्जादि लौकिक स्वरों का अन्तर्भाव तारता के दृष्टिकोण से उचित है ।

> गान्धारको मध्यम उच्चजात:
> षड्जर्षभौ द्वौ निहिताद्भवौस्त:
> सपंचमौ धैवतको निषाद् :
> त्रय: स्वराश्च स्वरितानुजाता:।[१]

नाट्यशास्त्रकार के टीकाकार अभिनवगुप्त ने दो श्रुति वाले स्वरों को अनुदात्त तीन श्रुति वाले स्वरों को स्वरित और चार श्रुति वाले स्वरों को उदात्त बताया है । अभिनव गुप्त द्वारा दिये गये विवरण के अनुसार - सा, म, प उदात्त, रे , ध स्वरित और ग , नि अनुदात्त हैं ।

> चतु: श्रुतिरुदात्त:उच्चत्वात् द्विश्रुतिरनुदात्त:
> नीचैस्त्वात् त्रिश्रुति: स्वरित: मध्यवर्तितया समाहारत्वात् ।[२]

अभिनवगुप्त के उपर्युक्त कथन से मध्यमग्रामीय (त्रिश्रुतिक) पंचम स्वरित हो जायेगा तथा जो गान्धार षड्ज और मध्यम ग्राम में अनुदात्त (द्विश्रुतिक) है वह गान्धार ग्राम में उदात्त हो जायेगा । अभिनवगुप्त के अनुसार ग्राम भेद से एक ही स्वर के कई स्तर होंगे यथा -

	षड्जग्राम	मध्यमग्राम	गान्धारग्राम
षड्ज	उदात्त (४श्रुति)	उदात्त (४ श्रुति)	स्वरित (३श्रुति)
ऋषभ	स्वरित (३श्रुति)	स्वरित (३ श्रुति)	अनुदात्त (२श्रुति)
गान्धार	अनुदात्त (२श्रुति)	अनुदात्त (२ श्रुति)	उदात्त (४श्रुति)
मध्यम	उदात्त (४श्रुति)	उदात्त (४श्रुति)	स्वरित (३श्रुति)
पंचम	उदात्त (४श्रुति)	स्वरित (३श्रुति)	स्वरित (३श्रुति)
धैवत	स्वरित (३श्रुति)	उदात्त (४श्रुति)	स्वरित (३श्रुति)
निषाद	अनुदात्त (२श्रुति)	अनुदात्त (२ श्रुति)	उदात्त (४श्रुति)

१- परिशिक्षा श्लोक ८३
२- अभिनव गुप्ता टीका, ना०शा० पृ० १४

- स्वराध्याय -

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ऋषभ के अतिरिक्त सभी स्वर किसी न किसी ग्राम में उदात्त हैं। गान्धार तथा निषाद के अतिरिक्त सभी स्वर किसी न किसी ग्राम में स्वरित हैं। तथा षड्ज, मध्यम, पंचम धैवत के अतिरिक्त सभी स्वर किसी न किसी ग्राम में अनुदात्त हैं। तात्पर्य यह कि दो श्रुतिवाले ग नि चार श्रुति तक (गान्धार ग्राम में) पहुँच गये, किन्तु चार श्रुति वाले सा, म , प, दो श्रुति तक (अनुदात्त) नहीं पहुँच पाये। तीन श्रुति (स्वरित) तक ही रह गये। तथा तीन श्रुतिवाले रे ध एक श्रुति कम तथा एक श्रुति अधिक हुए अर्थात् अनुदात्त और उदात्त दोनों बने। इसमें ऋषभ अनुदात्त (दो श्रुति) और धैवत उदात्त चार श्रुति (गान्धार ग्राम में) वाले हुये। अभिनव गुप्त के उपर्युक्त कथन से स्वरों की व्यवस्था उदात्तादि में ठीक नहीं बैठती। एक-एक स्वर के श्रुति के हिसाब से, दो दो रूप बनते हैं। एक ही स्वर के तीन रूप नहीं बने। यदि स्वर उदात्त-स्वरित है, तो अनुदात्त नहीं जैसे (सा म प) अनुदात्त अनुदात्त-स्वरित है तो, स्वरित नहीं है जैसे, गान्धार/उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अभिनव गुप्त ने शिक्षाओं में प्रतिपादित अन्तर्भाव से अलग हट कर अपने मन्तव्य को प्रतिपादित किया है।

तीसरा प्रकार -

उपर्युक्त द्वितीय प्रकार के अन्तर्भाव में यह बताया जा चुका है कि स्वरित का आधा भाग उदात्ततर और आधा उदात्त को उच्चारित होता है यदि बाद में उदात्त या स्वरित न हो तो। यदि बाद में उदात्त हो या स्वरित हो तो, वह अपने मूल रूप अर्थात् अनुदात्त रूप में ही रहेगा, यही ध्वनित होता है। स्वरित का पूर्वार्ध उदात्त होगा या अनुदात्त ? अर्थात्

- स्वराध्याय -

उदात्त-अनुदात्त के मेल से स्वरित है ? या अनुदात्त उदात्त के मेल से स्वरित है ? स्वरित का कम्पन भी बताया गया है -

'स्वरित एव कम्पितत्वं व्यवहारन्ति श्रोत्रिया :'[1]

स्वरित का जब कम्पन होगा तब उदात्त कितने अंश में है ? अनुदात्त कितने में? कहना दुष्कर होगा । नारदीया शिक्षा में भी स्वरित का कम्पन सम्बन्धी विवरण निम्नलिखित है ।

'अदीर्घं दीर्घत्वकुर्यात् द्विस्वरं यत्प्रयुज्यते ।
कम्पोत्स्वरिताभिगोतं हृस्व कर्षणमेव च ।।'[2]

अर्थात् स्वरित जो कम्पपूर्वक गाये जाते हैं, उनके हृस्व कम्प को दीर्घ अर्थात् दो मात्रा के बाराबर करना चाहिये । शोभाकर ने भी इस तथ्य की पुष्टि निम्नलिखित शब्दों में की है ।

'कम्पादिविषये हृस्वाणां दीर्घसादृश्यं कुर्यात् ।।'[3]

कहने का तात्पर्य है कि स्वरित कम्प के साथ-साथ मात्रा में भी वृद्धि प्राप्त करता है । सम्भवत: तारतादि में भी वृद्धि प्राप्त करता हो । उपर्युक्त स्वरित के स्वरुप को ध्यान में रखते हुये ही सम्भवत: स्वरित के कहीं छह कहीं सात कहीं आठ भेद बताये गये हैं तथा इन स्वरित प्रभेदों में ही षड्जादि सप्त स्वरों का स्वरूप भी वर्णित किया गया है तीसरे प्रकार के अन्तर्गत उदात्तानुदात्त की अपेक्षा स्वरित स्वर ही विशेष महत्त्वपूर्ण है।

१- अभिनवगुप्त - ना०शा० टीका पृ० ९४
२- ना०शि० २।३।७
३- वही टीका

- स्वराध्याय -

प्रातिशाख्यादि में प्रतिपादित स्वरितों के प्रभेद निम्नलिखित हैं ।

"षडेव स्वरित जातानि ।"[1]

"संहिता काले सप्तधास्वरितविकल्पैः ।"[2]

"अष्टौ स्वरान्प्रवक्ष्यामि तेषामेव च लक्षणम्
जात्योऽभिनिहितः क्षैप्रः प्रश्लिष्टश्च तथा परः । तैरोव्यंजन-
संज्ञश्च तथा तैरो विरामकः पादवृत्तो भवेत्तथाभाव्य-
स्तथापरः ।"[3]

उपर्युक्त स्वरित भेदों के विधान से ऐसा प्रतीत होता है कि इन स्वरितों के प्रभेदों से स्वर विकास सम्भव हुआ होगा । नारदीया शिक्षा में निम्नलिखित सप्त स्वरितों का विवेचन प्राप्त है ।

"जात्यः क्षैप्रोऽभिनिहतस्तैरव्यंजन एव च ।
तिरोविरामः प्रश्लिष्टः पादवृत्तश्च सप्तम् :[4]

'नारदीया शिक्षा' तथा 'स्वरशिक्षा' में सप्त स्वरितों की चर्चा हुई है। इन सप्त स्वरितों से ही सम्भवतः सप्त स्वरों की अभिव्यक्ति होती हो । 'चतुरध्यायिका' में स्वरितों का जो विवेचन उपलब्ध है, उसमें स्वरित प्रभेदों में ही सप्त स्वरों की स्थिति है, ऐसा प्रतीत होता है । प्रातिशाख्यकारों तथा शिक्षादि का विवेचन निम्नलिखित है ।

"अभिनिहितः प्राश्लिष्ट जात्यः क्षैप्रश्च तावुभौ ।
तैरोव्यंजनपादवृत्तावेतत्स्वरितमंडलं । सर्वतीक्ष्णोऽभिनिहित-
स्ततः प्राश्लिष्ट उच्यते । ततो मृदुतरौ स्वारौ जात्यः
क्षैप्रश्च तावुभौ । ततो मृदुतरः स्वारस्तैरोव्यंजन उच्यते
पादवृत्तो मृदुतर इति स्वारबलाबलम् ।"[5]

"तीक्ष्णोऽभिनिहितः परं परं मृदुस्त्वन्यः ।"[6]

"क्षैप्रनित्ययोर्दृढतरः अभिनिहिते च ।प्राश्लिष्टप्रातिहतयोर्मृदुतरः
तैरोव्यंजनपादवृत्तयोरल्परतरोल्पतरः ।"[7]

1- 'चतुरध्यायिका - पृ० ६
2- स्वरशिक्षा पृ० १
3- स्वरलक्षणम् - पृ० ७
4- ना० शि० १।८।१०
5- 'चतुरध्यायिका-पृ० ६
6- प्रा० सूत्रम् प्र०अ०पृ० ३
7- आथर्वण प्रातिशाख्य पृ० ११

- स्वराध्याय -

सर्वतीक्ष्णोऽभिनिहितः प्राश्लिष्टस्तदनन्तरम् ।
ततो मृदुतरौ स्वारौ जात्यक्षैप्रावुभौ स्मृतौ ।।
ततो मृदुतरः स्वारः तैरव्यंजनं उच्यते ।
पादवृत्तो मृदुतरस्त्वेतत्स्वारबलाबलम् ।।[१]

उपर्युक्त शिक्षा तथा प्रातिशाख्यों में विवेचित स्वरित स्वरों के स्वरूप से स्पष्ट है कि इनकी तारता (उच्च नीचता) का स्वरूप एक सा नहीं है। कहीं सर्वतीक्ष्ण कहीं तीक्ष्ण, कहीं मृदुतर कहीं अल्पतर है। ~~तात्पर्य~~ इन शब्दों से इनके तारता सम्बन्धी स्वरूप की ही अभिव्यक्ति होती है । इनमें प्रातिशाख्यसूत्र का विवेचन संगीत के दृष्टिकोण से अन्यों की अपेक्षा स्पष्टतर है । उसके अनुसार अभिनिहित स्वरित तीक्ष्ण है। किन्तु बाद के एक दूसरे से मृदु हैं । मृदु से तात्पर्य एक-दूसरे से क्रमशः नीचे हैं ऐसा अनुमान किया जा सकता है। चतुरध्यायिका के विवेचनानुसार तारता क्रम में स्वरितों के नाम निम्नलिखित हैं -

(१) अभिनिहित (२) प्रश्लिष्ट (३) जात्य (४) क्षैप्र
(५) तैरव्यंजन (६) पादवृत्त ।

ये तारता अवरोह क्रम में बतायी गयी है। इसमें 'तिरोविराम' का नाम नहीं आया है। किन्तु 'स्वरक्षण' में तथा 'नारदीया शिक्षा' में क्रमानुसार तैरव्यंजन के पश्चात् 'तिरोविराम' का उल्लेख हुआ है अतः तारता क्रम में भी तैरव्यंजन पहले और तिरोविराम बाद में होगा ऐसा प्रबल अनुमान किया जा सकता है । आरोही क्रम में तारता के दृष्टिकोण से निम्नलिखित क्रम बनेगा ।

(१) पाद वृत्त (२) तिरोविराम (३) तैरव्यंजन
(४) क्षैप्र (५) जात्य (६) प्रश्लिष्ट (७) अभिनिहित

१- 'वर्णरत्न प्रदीपिका शिक्षा' (शि०सं० पृ० १२६ श्लोक १०२-३

- स्वराध्याय -

उपर्युक्त चर्चा से यह अनुमान होता है कि ये सप्त स्वरित ही सम्भवतः षड्जादि के प्रतिनिधि हों । दूसरे शब्दों में इन स्वरित प्रभेदों में ही सप्त स्वरों का अन्तर्भाव निहित रहा है।

सिद्धेश्वर वर्मा ने षड्ज आदि का अन्तर्भाव स्वरित प्रभेदों में बताने का यत्न किया है उनके द्वारा उद्धृत किये गये श्लोक निम्नलिखित हैं ।

' तत्रापि नित्यो निहितश्च तेऽत्र ।
दीप्रो निषाद स्वर हेतव स्युः।।

तथा अंतिमस्वारक्मादवृत्तौ ।
स्यातां तथा धैवतहेतुभूतौ ।।

प्रश्लिष्ट प्रातिहतौभिधानौ ।
स्यातां तथा पंचम कारणे तौ ।।[१]

अर्थात् निषाद की उत्पत्ति अभिनिहित तथा दीप्र स्वरित से होती है । धैवत् की उत्पत्ति पादवृत्त एवम् तैरोव्यंजन से होती है तथा पंचम की उत्पत्ति प्रश्लिष्ट तथा पादवृत्त से होती है । षड्ज और ऋषभ की उत्पत्ति अनुदात्त से बतायी गयी है । षड्ज में अनुदात्त की ध्वनि दीर्घ एवम् ऋषभ से ह्रस्व बतायी गयी है । सम्भवतः षड्ज में चार श्रुति और ऋषभ में ३ श्रुति होने के कारण क्रमशः दीर्घ , ह्रस्व अनुदात्त से षड्ज, ऋषभ की उत्पत्ति बतायी गयी हो -

' अथानुदात्तौ यदि दीर्घह्रस्वौ हेतु च षड्जर्षभयोः क्रमेण।।२

१- प्रा०भा०वै०वि०वि०आ० पृ० १८० टिप्पणी से उद्धृत श्लोक ८४-८६

२- वही श्लोक ८८

- स्वराध्याय -

उपर्युक्त विवेचन में गान्धार मध्यम की उत्पत्ति नहीं स्पष्ट की गई है, किन्तु जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है , गान्धार मध्यम की उत्पत्ति उदात्त से होती है (पारिशिक्षा)

इस तरह तीसरे प्रकार का अन्तर्भाव इस प्रकार होगा ।

षड्ज	अनुदात्त दीर्घ
ऋषभ	अनुदात्त ह्रस्व
गान्धार	उदात्त
मध्यम	उदात्त
पंचम	प्रश्लिष्ट, प्रतिहत स्वरित
धैवत्	पादवृत्त तैरोव्यंजन स्वरित
~~तैरोव्यंजन~~	
निषाद	नित्य , निहत, क्षैप्र स्वरित

उपर्युक्त विवेचन में पंचम धैवत, निषाद की उत्पत्ति स्वरित से बतायी गयी है। प, ध, नि सप्तक में उत्तरार्ध हैं पूर्वार्ध में यही स्थिति सा रे ग की है जैसा कि पूर्व में अभिनव गुप्त के वक्तव्य द्वारा स्पष्ट किया जा चुका है। अत: इन स्वरितों में ही सा रे ग का भी अन्तर्भाव हो सकता है । मध्यम दोनों में मध्यवर्ती स्वर है, जिसे 'नारदीया शिक्षा' में प्रथम स्वर कहा गया है अर्थात् मध्यम को विशेष महत्त्व दिया गया है । पूर्वार्ध का अवरोह की दृष्टि से मध्यम प्रथम स्वर है उदाहरणार्थ - म ग रे सा इसके विपरीत उत्तरार्ध में आरोह की दृष्टि से मध्यम प्रथम स्वर है । सम्भवत: इसी कारण मध्यम को विशिष्ट महत्त्व प्रदान किया गया है । भरत ने मध्यम स्वर को अविनाशी बताते हुये अन्य स्वरों से प्रवर बताया है ।

- स्वराध्याय -

'सप्तस्वराणां प्रवरो ह्यविनाशी तु मध्यमः ।
गान्धर्व-कल्पेऽभिहितः सामगैश्च महर्षिभिः ।।[१]

वैदिक स्वर चूंकि अवरोहात्मक थे, अतः मध्यम ही एक ऐसा स्वर है जिसे दोनों त्रिकों ग रे सा नि ध प में मध्यस्थता करने के कारण (मध्यम) वैदिक प्रथम स्थानीय स्वर को मध्यम कहा गया । खोज की दृष्टि से भी सम्भवतः मध्यम (उदात्त) प्रथम स्वर था अतः इसे प्रथम नाम दिया गया । सम्भवतः इसी स्वर से सामगायन (आधार स्वर) आरम्भ होता हो इसलिये भी इसे प्रथम कहा गया हो । उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मध्यम उदात्त और महत्त्वपूर्ण स्वर था, अतः पारिशिक्षा में मध्यम को उदात्त बताना युक्ति-कौशल का परिचायक है ।

अतः उपर्युक्त स्वरित भेदों से ही मध्यम की मध्यस्थता से षड्जादि सप्त स्वरों का अन्तर्भाव सम्भव है ।
डा०वर्मा ने सप्त स्वरान्तर्भाव निम्नलिखित प्रकार से व्यक्त किया है ।

'अन्तिम तीन स्वरों में से सातवें स्वर । (निषाद) की उत्पत्ति स्वतन्त्र अभिनिहित से तथा स्वरित के दीप्र भेद से होती है --- --- --- छठे स्वर धैवत् की उत्पत्ति स्वरित के तैरोव्यंजन तथा पादवृत्त भेदों से होती है -- -- -- पंचम स्वर (पंचम) की उत्पत्ति स्वरित के प्रश्लिष्ट एवं प्रतिहत नामक प्रभेदों से होती है -- -- -- कहा गया है कि प्रथम स्वर की उत्पत्ति अनुदात्त स्वराघात से होती है यदि इसकी ध्वनि दीर्घ हो तथा द्वितीय स्वर की उत्पत्ति अनुदात्त स्वराघात से होती है यदि इस ध्वनि की मात्रा लघु हो ।' २

- -

१- नाट्यशास्त्र २८।७३ निर्णयसागर संस्करण
२- प्रा०भा०वै० ध्व०वि०वि०अ० पृ० १७६

- स्वराध्याय -

उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट है कि उदात्तादि वैदिक स्वरों में सप्त स्वरों का अन्तर्भाव उचित प्रतीत होता है । मतंग ने भी सामवेद से स्वरों को उद्भूत बताया है ।

" सामवेदात् स्वरा जाता: ।। "[1]

कुछ अन्य विद्वानों ने भी वैदिक स्वरों में गान्धर्व के षड्जादि स्वरों का अन्तर्भाव दर्शाया है। डा० फाटक ने पूर्वांग उत्तरांग भाग बता कर तथा मध्यम की इन दोनों भाग में मध्यस्थता बतायी है। इनमें इन्होंने गान्धार-निषाद एक जाति के, ऋषभ-धैवत एक जाति के, तथा षड्ज-मध्यम पंचम को एक ही जाति का बताकर श्रुति संख्या की दृष्टि से तीन वर्गभेद बताये हैं ।[2]

विख्यात विद्वान् बृहस्पतिजी ने उदात्ते निषाद गान्धारौ---- का अर्थ भिन्न प्रकार से प्रस्तुत किया है उनके मतानुसार -

" जब उदात्त स्वर परवर्ती हो तब निषाद और गान्धार का जन्म होता है -- -- -- जब अनुदात्त स्वर परवर्ती हो, तो ऋषभ और धैवत् का जन्म होता है । जब स्वरित स्वर परवर्ती हो , तब षड्ज , मध्यम का जन्म होता है ।[3]

बृहस्पति जी के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि षड्ज ,मध्यम पंचम स्वरित नहीं वरन् उदात्त हैं , इसी प्रकार गान्धार व निषाद को उदात्त न मानकर अनुदात्त माना है तथा रे ध को स्वरित माना है, इसके अतिरिक्त मध्यम ग्रामीय त्रिश्रुतिक पंचम को स्वरित माना है । बृहस्पतिजी ने

१- बृहद्देशी श्लोक ६२ पृ० १७
२- पा०शि०शि० सo सo पृ० १०६-११०
३- सं०चि० पृ० २७

- स्वराध्याय -

अभिनव गुप्त का ही अनुमोदन किया, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि अभिनव गुप्त ने द्विश्रुतिक (ग नि) को अनुदात्त त्रिश्रुतिक (रे ध) को स्वरित और चतु:श्रुतिक (सा म प) को उदात्त कहा है । मूलत:

उपर्युक्त चर्चा का निष्कर्ष यह है कि मूलत: स्वर तीन ही हैं जिसका विस्तार सप्त स्वरों तक हुआ है ।

भरतभाष्य के टिप्पणीकर्ता के अनुसार -

" प्रस्तुत विषय में प्राचीन ग्रन्थकारों की मतभिन्नता देखने से प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थकारों की ये सभी योजनायें वैदिक स्वरों के साथ संगीत के स्वरों का सम्बन्ध जोड़ने की दशा में केवल प्रयोगरूप थी ।[1]

क्रुष्टादि सामवैदिक स्वर -

उदात्तादि तीन मुख्य स्वरों की चर्चा पूर्व में प्रस्तुत की गयी। तीन स्वरों का विकास ही क्रमश: सात स्वरों तक हो गया । इन सप्त स्वरों को क्रमश: अवरोहात्मक क्रम में प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र अतिस्वार्य क्रुष्ट के नाम से नारदीया शिक्षा में बताया गया है ।

" प्रथमश्च द्वितीयश्च तृतीयोऽथ चतुर्थक: ।
मन्द्र: क्रुष्टो ह्यतिस्वार: एतान् कुर्वन्ति सामगा: ।।[2]

माण्डूकी शिक्षा में भी सामगायकों द्वारा सप्त स्वर प्रयोग की चर्चा हुयी है ।

१- भ०भा० १ पृष्ठ ३०
२- ना०शि० १।१।१२

- स्वराध्याय -

" सप्त स्वरास्तु गीयन्ते सामभिः सामगैर्बुधैः ।"[1]

सप्त स्वरों का प्रयोग सामगायन में किया जाता है, इसे स्वीकारते हुये बृहस्पतीजी ने कहा -

"यह सत्य है कि सामवेद में सातों स्वरों का प्रयोग होता है।"[2]

क्रुष्टादि स्वरों का नामकरण -

लौकिक स्वरों के नामों से सामिक स्वरों के पृथक् नाम, स्वाभाविक रूप से ही कुतूहलता जागृत करते हैं कि इनके नामों की सार्थकता या मूलाधार क्या है ? ये सामिक नाम काल्पनिक नहीं अपितु अर्थानुकूल हैं ।

मध्यम के कर्षण से जो उच्च स्वर प्रकाश में आया उसे क्रुष्ट कहा गया। इस तथ्य की पुष्टि नारदीया शिक्षा के टीकाकार शोभाकर भट्ट ने निम्नलिखित शब्दों में की है ।

" क्रुष्टः सप्तमः पंचम इत्युक्तः ।[3]

अर्थात् क्रुष्ट स्वर पंचम तथा सातवां है अर्थात् अतिस्वार के बाद का है किन्तु अतिस्वार से इसकी ध्वनि उच्च है , इसका स्पष्टीकरण क्रुष्टः उच्चः[4] कहकर टीकाकार ने किया है । भरतभाष्य के टीकाकार ने भी सामिक स्वर सप्तक को अवरोही बताकर क्रुष्ट को सर्वोच्च बताया है ।

" सामिक स्वर सप्तक अवरोही था, उसमें क्रुष्ट स्वर आदिम एवं सर्वोच्च था ।"[5]

१- भा० शि० श्लोक ७
२- सं० चि० पृ० २६
३- ना० शि० टीका १।७।२
४- ना० शि० टीका १।१।६
५- भ० भा० टीका पृ० ३७

- स्वराध्याय -

~~दृष्टि से~~

बृहस्पति जी ने खोज की दृष्टि से स्वरों के नाम प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ है ऐसा सार्थक वक्तव्य प्रस्तुत किया है । 'नारदीया शिक्षा' में 'प्रथम' नाम क्रमांक का सूचक नहीं अपितु स्वर विशिष्ट का परिचायक है। प्रथम से मध्यम स्वर का निर्देश किया गया है ।

'यः सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यम स्वरः ।[१]

बृहस्पति जी का वक्तव्य निम्नलिखित है -

'मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज सामवेदियों की भाषा में क्रमशः प्रथम द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ कहलाये इसके पश्चात् अवरोह की ओर एक नये स्वर का ज्ञान सामवेदियों को हुआ, जिसका नाम उन्होंने मन्द्र रक्खा। ज्ञान या खोज की दृष्टि से यह स्वर पांचवां था, जिसे तुंबुरु ने धैवत कहा धैवत के बाद तुंबुरु को निषाद का ज्ञान हुआ जिसे खोज की दृष्टि से छठा कहा गया है निषाद का दूसरा नाम 'अतिस्वर' या 'परिस्वार' भी हुआ इसके पश्चात् मन्द्र स्थान में ही एक और स्वर की प्राप्ति हुई और इसे सातवां स्वर कहा गया क्योंकि उपलब्धि क्रम में यह सातवां था ।[२]

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि खोज के क्रम में म ग रे सा क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवम् चतुर्थ हैं । अतः खोज के क्रमानुसार इनका नाम सार्थक है । पांचवां स्वर धैवत को मन्द्र स्थानीय होने के कारण सम्भवतः मन्द्र कहा गया और मन्द्र के कर्षण से अतिस्वार को उत्पन्न बताया गया है ।

१- ~~सन्धि~~ ना०शि० १।५।१ पूर्वार्ध

२- सं०चि० पृ० ३५

- स्वराध्याय -

- मन्दकर्षेन संयुक्तम् अतिस्वारं प्रशंसति ।।[1]
- विकर्षणेन तु मन्द्रस्य मुक्तोऽतिस्वार्य उच्यते ।।[2]

नारदीया शिक्षा में अतिस्वार को परिस्वार भी कहा गया है तथा इसे निम्नस्थानीय स्वर बताया गया है ।

- मन्द्रोहि नहि भूतस्तु परिस्वार इति स्मृत: ।।[3]
- अतिस्वारेण नीचेन जगत्स्थावरजंगमम् ।। [4]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सामिक स्वर मुख्यत: पाँच हैं । क्रुष्ट तथा अतिस्वार जैसा कि नाम से स्पष्ट है, क्रमश: प्रथम और मन्द्र के कर्षण से उद्भूत हो कर कुल सामिक स्वर सात हो गये ।

इस तथ्य का स्पष्टीकरण भरतभाष्य में भी उपलब्ध है ।

- क्रुष्टातिस्वाराभ्यां सह सप्त सामगा: परिकल्पयन्ति ।।[5]

सामिक स्वरों में क्रुष्ट तथा अतिस्वार्य विशिष्ट अर्थ के प्रतिपादक प्रतीत होते हैं।

बर्नेल ने सामिक स्वरों में क्रुष्ट को प्रथम बताया है[6] , जो उचित नहीं है स्ट्रैंग्वेज ने इसका खण्डन करते हुये कहा है -

"Moreover,No v = (पुष्पसूत्र) alludes to the Seven swaras as क्रुष्टादि begining on - क्रुष्ट So there is little doubt that the Krusta is above the Prathama and that another statement of Burnell's that Krusta and Prathma are the same note is net universally true " [7]

१- ब्र०देव श्लोक ११३ पृ० २७०
२- -वही-
३- ना० शि० १।७।५ उत्तरार्ध
४- -वही- १।७।८ पूर्वार्ध
५- भ० भा० १।७।४ पृ० २३
६- हिन्दुस्तानी म्यूजिक बाईवायस आथर्स पृ० ४०६
७- म्यूजिक आफ हिन्दुस्तान पृ० २५७

- स्वराध्याय -

उपर्युक्त वक्तव्यों से क्रुष्ट को प्रथम स्वर समझने की भ्रान्ति का निवारण होता है। क्रुष्ट और प्रथम अलग-अलग स्वर हैं, यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है।

'प्रथम' के अतिरिक्त अन्य स्वर द्वितीयादि भी क्रमांक सूचक नहीं हैं अपितु स्वरों के नामों के निर्देशक हैं।

द्रविण शास्त्री जो राणायनी शाखा के सामगायक माने जाते हैं, ने सामिक स्वर सप्त स्वरों का निम्नलिखितानुसार विवेचन प्रस्तुत किया है।[1]

१	२	३	४	५	६	७
ma	ga	re	sa	ni	dha	pa

अर्थात् मध्यम का 'प्रथम' स्थान है तथा इसी क्रम में ग रे सा भी क्रमश: 'द्वितीय' 'तृतीय', 'चतुर्थ' हैं। पंचम, जिसे क्रुष्ट बताया गया है, का सातवां स्थान है, अत: क्रुष्ट को 'प्रथम' मानना असंगत है। उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि प्रथमादि नाम सप्रयोजक हैं निष्प्रयोजक नहीं।

षड्जादि सप्त स्वर -

षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद सप्त नाम, क्रुष्टादि के अतिरिक्त, नारदीया शिक्षा में उपलब्ध होते हैं। यथा-

> 'षड्जश्च, ऋषभश्चैव गान्धारो मध्यमस्तथा।
> पंचमो धैवतश्चैव निषाद:, सप्तम: स्वर:।।'[2]

१- 'दी मोड आफ सिंगिंग सामगान' पृ० ३
२- ना०शि० १।२।५

- स्वराध्याय -

नारदीया शिक्षा के द्वारा गान्धर्ववेदीय (साम का उपवेद) स्वरों की चर्चा से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सामगायन के समानान्तर लौकिक गायन भी प्रचलित रहा होगा। 'नारदीया शिक्षा' में वर्णित यः सामगानां -- -- -- स्मृतः [१]

क्रमशः म - प्रथम ग - द्वितीय , रे - तृतीय स - चतुर्थ ध - मन्द्र , नि - अतिस्वार्य , प - क्रुष्ट के तुल्य है। उपर्युक्त श्लोक में संख्या क्रम से बताया गया है। संख्या क्रम में स्वरों के उल्लेख करने का उद्देश्य सम्भवतः स्वरलिपि में संख्याओं द्वारा तत् तत् स्वरों का निर्देश करना है। उव्वट ने भी इन सप्त गान्धर्ववेदीय स्वरों तथा सामिक स्वरों का विवेचन प्रस्तुत किया है।[२] किन्तु स्वरों का क्रम परस्पर अनुकूल प्रतीत नहीं होता वेदों के मर्मज्ञ सायण ने गान्धर्व तथा सामिक स्वरों में सामंजस्य स्थापित करते हुए नि - क्रुष्ट ध - प्रथम, प - द्वितीय, म - तृतीय गान्धार - चतुर्थ , ऋषभ - मन्द्र षड्ज - अतिस्वार्य है ।[३] इस प्रकार का शिक्षा विरोधी तथ्य प्रस्तुत किया है। अतः यह विचारणीय है कि क्रुष्टादि वैदिक स्वरों की षड्जादि लौकिक स्वरों से क्या समानतादि है।

वैदिक तथा लौकिक स्वर -

स्वर वही हैं, किन्तु फिर भी लौकिक तथा वैदिक स्वर कह कर स्वरों में अन्तर बताया गया है। ये अन्तर स्वर नामों में है। स्वररूप में है, प्रयोग करने की ढंगादि में है।

- -

१- ना०शि० १।५।१-२
२- उ०भा०ऋ०प्रा० १३।४४ पृ० ७१२
३- भा०सं०इ० पृ० ६६

- स्वराध्याय -

वैदिक तथा लौकिक-स्वरों में क्या समानता है इसमें भरतभाष्यकार के निम्नलिखित विवेचन से अपेक्षाकृत स्पष्टतर समझा जा सकता है -

> 'अथ मन्द्र-द्वितीय-प्रथमचतुर्थातिस्वार्य-तृतीय-सप्तम-पर्याय-क्रुष्ट शब्दैर्यथाक्रमं निषाद-गान्धार-मध्यम (षड्ज) धैवतर्षभ-पंचमा उच्यन्ते ।।' [1]

भाष्यकार के अनुसार लौकिकनिषाद वैदिक मन्द्र स्वर के तुल्य गान्धार द्वितीय के तुल्य, मध्यम प्रथम के तुल्य, षड्ज चतुर्थ के तुल्य धैवत अतिस्वार्य के तुल्य ऋषभ तृतीय के तुल्य तथा पंचम क्रुष्ट के तुल्य है ।

नारदीया शिक्षा में भी सामिक स्वरों की लौकिकस्वरों से तुलना करते हुए म ग रे सा ध नि प लौकिक स्वर को क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय , चतुर्थ , मन्द्रातिस्वार्य तथा क्रुष्ट बताया है ।[2]

बृहस्पतिजी ने भी इसका अर्थ बताते हुये सम्प्रदाय के महत्त्व को प्रतिपादित किया है । ध नि प को पांचवां , छठवां, सातवां क्यों कहा गया है इसके लिये सम्प्रदाय का ज्ञान होना आवश्यक है। बृहस्पतिजी के शब्दों में -' स्वरों ' के दर्शन या उपलब्धि के क्रम में ध नि प क्रमशः पांचवें छठे सातवें हैं ।[3]

नारदीया शिक्षा में क्रुष्टादि को प्रथमादि कहने का कारण सम्भवतः स्वरलिपि में संख्या निर्देशन करना रहा हो । भट्टशोभाकर ने क्रुष्ट और अतिस्वार्य(प्र नि)का प्रयोग क्वचित् ही बताया है, किन्तु हस्तांगुलियों पर सारणा के निमित्त स्वरों की प्रथमादि संज्ञा है । ऐसा विचार व्यक्त किया है ।[4]

१- भ०भा० १ २।८७। पृ० ३७
२- ना०शि० १।५।१-२ ८
३- स०चि० पृ० २९
४- ना०शि० टीका १।५।१ पृ० ३८

- स्वराध्याय -

अतः स्पष्ट है कि कृष्टादि सामिक स्वरों के नाम वैदिक हैं और षड्जादि लौकिक हैं। म ग रे सा ध नि प क्रमशः लौकिक स्वरों के अनुकूल नहीं है। कृष्टादि सप्त स्वर त्रिस्थानीय बताये गये हैं।

कृष्टादि का त्रिस्थानीय होना -

नारदीया शिक्षा में कृष्टादि सप्त स्वरों का त्रिस्थानीय होना स्पष्ट किया गया है।

उरः सप्तविचारं स्यात्तथा। कण्ठस्थाशिरः। [१]

अर्थात् उर (हृदय) स्थानीय सप्त स्वर की तरह ही कण्ठ तथा शिर-स्थानीय भी हैं। त्रिस्थानों में सप्त स्वरों का निर्देश प्रातिशाख्यों में स्पष्टतः किया गया है।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य में तीन स्थानों में सप्त-सप्त स्वरों का होना बताया गया है। तथा किसी भी व्यवधान द्वारा ये स्थान से पृथक् नहीं होता। इन सप्त स्वरों को `यम` नाम से भी सम्बोधित किया गया है।

त्रिणि -- -- -- -- सप्तस्वरा ये यमास्ते ॥२

वैदिक तथा लौकिक दोनों प्रकार के स्वरों के लिये यम संज्ञा बतायी गयी।[३] `यम` दो की संख्या के लिये भी प्रयुक्त किया जाता है।[४]

१- ना०शि० १।१।८ पूर्वार्ध
२- ऋ०प्रा० १३।४२-४४ पृ० ७१०
३- उ०भा० ऋ०प्रा० पृ० ७१२
४- संस्कृत श०कौ० पृ०६५१

- स्वराध्याय -

अत: `यम` से लौकिक,वैदिक अथवा भाषात्मक, संगीतात्मक दो प्रकार के स्वरों को समझा जा सकता है । तैत्तिरीय प्रातिशाख्यकार ने तीनों स्थानों में सात-सात यमों का होना बताया है ।

> मन्द्रादिषु-त्रिषुस्थानेषु सप्त-सप्त यमा:
> क्रुष्ट-प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-मन्द्रा-तिस्वर्या: [१]

प्रातिशाख्यकार के मतानुसार इन तीनों स्थानों में इक्कीस यम होते हैं ।[२] सायण के अनुसार लौकिक निषादादि स्वर ही साम में क्रुष्टादि सप्त स्वर होते हैं । [३]अत: यह तथ्य अनुमेय है कि उस समय तक मूल तीन स्वरों का विकास होकर सात स्वरों की प्रतिष्ठा हो गयी थी । यद्यपि इन सात स्वरों की परस्पर दूरी अर्थात् तारतामान का निर्देश नहीं है किन्तु वे मुख्यत: तीन ही प्रकार के अन्तरालों पर आश्रित होंगे जैसा कि आजकल भी है और इसका उल्लेख हम गत पृष्ठों में कर आये हैं । क्रुष्टादि सात स्वरों का त्रिस्थानीय वर्णन इस तथ्य को भी उजागर करता है कि अधुना प्रचलित मुख्य तीनों सप्तकों का आधार ये ही त्रिस्थान रहे होंगे । सांगीतिक क्रियाओं के विस्तार के साथ ही साथ उसके स्वर-विस्तार की आवश्यकता अनुभव की गयी , जिसके फलस्वरूप सात सप्तकों की कल्पना भी मिलती है यथा मन्द्र मन्द्रतर मन्द्रतम इत्यादि परन्तु मुख्य सप्तक या स्थान तीन ही हैं और तीन ही रहेंगे क्योंकि ये मानव कण्ठ एवं मानवकर्ण की प्राकृतिक सीमा पर आश्रित हैं । `मन्द्रतम` तथा `तारतम` जैसे सप्तक मात्र सैद्धान्तिक हैं व्यवहारिक नहीं । प्रचार में तो तीन सप्तकों (स्थानों) का प्रयोग भी पूर्णत: देखने में कम ही आता है ।

१- तै०प्रा० सू० १८३ पृ० १८३
२- वही सू ११-१२ पृ० १७६
३- भा०सं०ई०परांजपे पृ०६६

- स्वराध्याय -

स्वरों का नामकरण -

विभिन्न स्वरों का नामकरण किस प्रकार हुआ यह भी एक रोचक प्रसंग है। नारदीया शिक्षा में षड्ज को शरीरस्थित नासिका, कण्ठ, उर, तालु, जिह्वा तथा दांत इन छह स्थानों से उत्पन्न होने के कारण षड्ज की संज्ञा दी गई।[1] षड् अर्थात् उपर्युक्त छह स्थानों से उत्पन्न होने के कारण यह नामकरण उचित लगता है। किन्तु इसका एक और अर्थ भी हो सकता है। षड्ज क्योंकि अगले छह स्वरों (रे ग म प ध नि) का आधार है अर्थात् यह छह स्वर षड्ज के कारण ही अस्तित्व में आते हैं, इसलिये छह स्वरों का जनक होने के कारण षड्ज संज्ञा सार्थक है।[2] आजकल सा आधार स्वर है और उस पर ही सप्तक निर्भर करता है। दूसरे शब्दों में रे ग इत्यादि स्वरों की पहचान षड्ज की स्थापना के बिना सम्भव नहीं है अतः षड्ज को ही उनका जनक लाक्षणिक रूप से कहा जा सकता है।

रे के विषय में शिक्षाकार का कथन है नाभि- से उत्थित वायु सांड (ऋषभ) की भांति आवाज करती है इसलिये इस स्वर का नाम ऋषभ है।[3]

ऋषभ का अर्थ उत्तम या श्रेष्ठ भी है।[4] जो संगीत की दृष्टि से अधिक मान्य लगता है। क्योंकि ऋषभ द्वितीय स्वर तो सप्तक का है ही साथ ही षड्ज की तुलना में यह अधिक ऊंचा या उत्तम (तारता) दृष्टि से है। अतः इसी अर्थ में इसका नामकरण हुआ होगा। आजकल उत्तरीय संगीत में ऋषभ का संक्षिप्त रूप 'ऋ' न होकर रे प्रयुक्त होता है किन्तु कर्नाटक शैली में 'रि' का प्रयोग होता है।

१- ना०शि० १।५।७
२- रागपरिचय
३- ना०शि० १।५।८
४- सं०श०को० पृ० २७०

- स्वराध्याय -

गान्धार के विषय में यह कहा गया है कि -

नासागन्धावह: पुण्यो गान्धारस्तेन हेतुना ।'[१]

किन्तु यह व्युत्पत्ति संगीत की दृष्टि से मान्य नहीं हो सकती क्योंकि गान्धार स्वर का गन्ध या सूंघने से कोई कुछ सम्बन्ध नहीं है। सम्भव है कि गन्ध का लाक्षणिक अर्थ रहा हो । सा स्वर के तानपूरे इत्यादि पर बजाये जाने की दशा में गान्धार स्वर सूक्ष्म रूप से सुनायी पड़ता है जिसे ध्वनि-शास्त्र ' स्वयंभू ' की संज्ञा देता है। शायद ग के इसी प्रत्यक्ष किन्तु सूक्ष्म रूप को सा की गन्ध के रूप में ग्रहण करते हुये लाक्षणिक रीति से उसे गान्धार कहा गया हो । यह भी एक मत है कि गन्धर्वों द्वारा इस स्वर का प्रचुर प्रयोग किया गया था इसलिये इसका नाम गान्धार पड़ा। यद्यपि यह कथन प्रामाणिक नहीं है लेकिन गन्धर्वों के गान्धार ग्राम का उल्लेख प्राप्य है और गान्धारग्राम का मुख्य स्वर ग होने से सम्भव है कि गन्धर्वों से गान्धार स्वर का नामकरण हुआ हो । ' संगीतसमयसार' के अनुसार ' गान्धार गन्धर्वों के सुख का हेतु है '। [२]

मध्यम स्वर की व्युत्पत्ति के विषय में किसी भी शिक्षा-ग्रन्थ में कोई उल्लेखप्राप्त नहीं होता किन्तु टीकाकार ने अपनी ओर से मध्य-स्थानीय होने के कारण इसे मध्यम बताया है ।[३] मध्य स्वर वास्तव में हर दृष्टि से मध्य का स्वर ही है। तीनों सप्तकों में मध्य अर्थात् मध्य सप्तक और उसके भी ठीक मध्य में स्थित है। अत: तारता की दृष्टि से ठीक बीचोबीच होने के कारण इसे मध्यम कहना उचित है। तीव्रता की दृष्टि से भी मध्यम की संज्ञा सार्थक है , क्योंकि इसका गायन न तो अधिक

- -

१- ना०शि० १।५।१०
२- गन्धर्वसुखहेतु: सं०स०सा०
३- ना०शि० टीका १।५।१०

- स्वराध्याय -

तीव्रता के साथ हो सकता है और वे अधिक मृदुता (Low Volume)
के साथ । यह एक व्यवहारिक तथ्य है कि तारता के अनुपात में तीव्रता की
भी न्यूनाधिकता कुछ सीमा तक प्रभावित होती है, अतः मध्यम उपर्युक्त
दोनों ही दृष्टियों से मध्यम है। संख्या की दृष्टि से भी तीन स्वर मध्यम
के अवरोह क्रम में और तीन स्वर आरोह क्रम में हैं अर्थात् मध्यम दोनों ही
क्रमों से सप्तक का चौथा स्वर है ।[1]

मध्यम को स्वरित माना गया है जिसका अभिप्राय भी इसके
मध्यमत्व को परिलक्षित करता है। पुनश्च मध्यम आधार स्वर (Drone)
के रूप में भी रहा है। मध्यम ग्राम की मूर्छनाओं का आरम्भक स्वर होने
के साथ ही साथ शिक्षाकार ने भी इसे प्रथम स्वर कहा है ।[2] भरत ने भी
मध्यम की श्रेष्ठता स्वीकारी है और उसे अविनाशी कहा है, जिससे प्रत्येक
संगीत रचना में इसकी अनिवार्यता ज्ञात होती है।

" सप्तस्वराणां प्रवरो ह्यविनाशी तु मध्यमः । "[3]

जिस प्रकार आजकल षड्ज स्वर आधार है और अनिवार्य रूप से प्रयुक्त होता
है वही स्थिति मध्यम की रही होगी ऐसा अनुमान उपर्युक्त तथ्यों के आधार
पर सहज ही किया जा सकता है ।

पंचम स्वर के विषय में शिक्षाकार का कथन है -

" पंचस्थानोत्थितस्यास्य पंचमत्वं विधीयते । "[4]

संख्या की दृष्टि से सप्तक के सात स्वरों में से पांचवा (पंचम) होने के कारण

- -

१- ना॰शि॰ टीका पृ॰ 14
२- ना॰शि॰ १।५।१
३- ना॰शा॰ २८।७३ का
४- ना॰शि॰ १।५।१०

- स्वराध्याय -

भी इसकी पंचम संज्ञा स्वीकार योग्य है । ' संगीत सम्यसार ' का भी यही मत है [१] पंचम स्वर भी स्वरित की कोटि में शामिल है, क्योंकि यह भी आधार स्वर की तरह प्रयुक्त होता है । तानपुरे पर गायक षड्ज के साथ पंचम स्वर का ही मेल करते हैं । केवल पंचम वर्ज्य रागों में अन्य स्वर से तन्त्री मिलायी जाती है । बहुत से राग तो पंचम भाव परिवर्तित होने से ही बने हैं - यथा आभोगी, कलावती । यूनानी संगीत में भी टेट्रा कार्ड की रचना पंचम स्वर से की गयी है यथा - सारे गम - पधनिसा । यहाँ पर षड्ज-ग्राम तथा उनके परवर्ती स्वर क्रमशः परस्पर रूपान्तरण मात्र है [२] अभिनवगुप्त का भी कुछ ऐसा ही मत है जिसके अनुसार सारे ग त्रिक में जो सा का स्थान है प ध नि त्रिक में वही प का है ।[३] अतः दोनों स्वर संवादी तो हैं ही एवं परस्पर पूरक भी हैं ।

धैवत को शोभाकर ने पूर्ववर्ती स्वरों को जोड़ने वाला बताया है ।

' अतिसन्धीयते यस्मादेतान् पूर्वोच्चरितास्वरान् । ' [४]

नारद के अनुसार ग्राम को प्राप्त कर जिस स्वर की वृद्धि और ह्रास होता है, उसे उस स्वर का धैवत्व बताया है ।[५] मतंग ने पंचम के द्वारा धृत है इसलिये उसे धैवत कहा है । -

' औडव: पंचमेन धृतो यस्मात् तेनासौ धैवतोमत: । ' [६]

- -

१- सं० स० सा० सं० र० पृ० ८४ से उद्धृत
२- आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ म्युजिक
३- ना० शा० टीका पृ० १४
४- ब० शि० टीका १।५।२६
५- वही १।५।२७
६- बृहद्देशी पृ० २८

- स्वराध्याय -

संगीत समयसार ने उन स्थानों से धृत होने के कारण उसे धैवत बताया है ।[१]

"शिक्षाकार ने निषाद की व्युत्पत्ति करते हुये कहा है -

" निषीदन्ति स्वरा यस्मान्निषादस्तेन हेतुना" ।[२]

टीकाकार ने इसे स्पष्ट करते हुये कहा - जिस प्रकार आदित्य ग्रह नक्षत्रों को रोकता है उसी प्रकार निषाद तक पहुंचते-पहुंचते सभी स्वर लीन हो जाते हैं ।[३] शिक्षाकार के मत का ही अनुसरण करते हुये मतंग ने भी कहा है -

" निषीदन्ति स्वरा: सर्वे निषादस्तेन कथ्यते ।"[४]

अन्य संगीत शास्त्रकारों का भी प्राय: ऐसा ही मत है । निषाद स्वर सप्तक का सातवां अर्थात् अन्तिम स्वर है, जिससे सप्तक पूर्णता को प्राप्त करता है और निषाद स्वर के उपरान्त ही अगला सप्तक आरम्भ होता है इसलिये इसे प्रवेशक स्वर (Leading Note) भी कहा गया है ।[५]

उपर्युक्त स्वर नामकरण का विवरण तथा स्वरों की नाम निरुक्ति का प्रयास पूर्णत: ग्राह्य नहीं है । यद्यपि उसमें कुछ सत्यांश प्रतीत होता है किन्तु छह स्थानों से उत्पन्न होने वाले को षड्ज पांच स्थानोत्थित को पंचम तथा पूर्व स्वरों को जोड़ने के कारण धैवत इत्यादि निरुक्तियां भ्रामक हैं, क्योंकि छह अथवा पांच स्थानों से उत्पन्न होने की विशेषता केवल षड्ज या पंचम की ही नहीं है अपितु अन्य स्वरों में भी यह विशेषता लागू होती है पुनश्च ऋषभ इत्यादि की ध्वनि का सादृश्य बैल की ध्वनि से दर्शाना भी बुद्धि ग्राह्य नहीं है अत: डा०देसाईजी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि स्वरनामों की यह निरुक्ति काल्पनिक है ।[६]

१- सं०स० १ पृ०-८४ से ३८५ तक
२- ना०शि० १।५।१८
३- ना०शि०टीका वही
४- बृहद्देशी श्लोक-६४
५- द्र० ध्वनि और संगीत
६- भ०भा०टीका पृ०-६५

- स्वराध्याय -

सप्तस्वरों के उत्पत्ति स्थान -

पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि हृदय, कण्ठ, शिर , क्रमश: मन्द्र, मध्य, तार सप्तक (सा रे ग म प ध नि) के स्थान हैं ।[1] फिर भी षड्जादि स्वरों की उत्पत्ति में जिन अंगों की प्रधानता है उनका विवेचन नारदीया शिक्षा के माध्यम से निम्नलिखित है -
कण्ठ से षड्ज, शिर से ऋषभ, गान्धार अनुनासिक (मुख व नासिका) है, अर्थात् मुख का अनुगमन करने वाली, नासिका से , हृदय से मध्यम, हृदय, कण्ठ तथा शिर से पंचम, ललाट से धैवत और निषाद सभी स्थानों के सम्मिलित रूप से उत्पन्न होता है ।

'भरतभाष्य' में 'नारदीया शिक्षा' का ही अनुकरण किया गया है ।[2] 'बृहद्देशी' में भी नारदीय वचनों का ही अनुकरण है ।[3] 'गायनशास्त्र' में षड्जादि को कण्ठतन्त्री से उत्थित स्वर बताया गया है तथा नासिका , कण्ठ,उर, तालु, दन्त, जिह्वा एवं नाभि स्वरों के स्थान बताये हैं -

> षड्जर्षभगांधारनिषादमध्यमधैवता: । पंचमश्चेत्यमी सप्त
> तंत्रीकण्ठोत्थित: स्वरा: । नासाकंठउरस्तालुदंताजिह्वास्तथैव च।
> नाभिश्चेति स्वराणां स्युस्स्थानानि मुनयो जगु: ।[4]

'गायनशास्त्र' के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सभी स्वर कण्ठतन्त्री से उत्पन्न होते हैं और नासिका , कण्ठ, उर, तालु , दन्त, जिह्वा , नाभि इनके स्थान हैं । प्रस्तुत स्थान सम्बन्धी विवरण क्रमानुसार नहीं है । अत: किस स्वर का कौनसा स्थान विशेष है यह सुस्पष्ट नहीं है । स्वरस्थानों में नाभि भी

१- ना०शि० १।१।७
२- भ०भा० १ ३।२४-२५
३- बृहद्देशी श्लोक - ८५-८६
४- गायनशास्त्र पृ० १

- स्वराध्याय -

बताया गया है जिसका उल्लेख नारदीया शिक्षा में नहीं किया गया है। स्थान से तात्पर्य जहां स्वरों का उपसंहार हो अर्थात् संश्लेष हो।[१]

पशु-पक्षियों की बोलियों से षड्जादि की साम्यता -

षड्जादि स्वरों के स्वरूप का निर्धारण शिक्षाकारों ने पशु-पक्षियों की बोलियों के आधार पर किया है।

नारदीया शिक्षा में मयूर की आवाज को षड्ज, गाय को ऋषभ, बकरा को गान्धार, क्रौंच को मध्यम, कोयल को पंचम, घोड़े को धैवत और हाथी की आवाज को निषाद बताया गया है।[२] अर्थात् इन की आवाज में सप्त स्वरों का दर्शन हो सकता है।

याज्ञवल्क्य ने भी षड्जादि को क्रमशः मोर, बकरी, गाय, क्रौंच, कोयल, घोड़ा तथा हाथी की आवाज के तुल्य माना है।[३]

नारद और याज्ञवल्क्य में ऋषभ और गान्धार के विषय में मतैक्य नहीं है। शेष स्वरों के प्राणि समान हैं।

शिक्षाकारों की परम्परा को संगीतग्रन्थकारों ने भी बनाये रखा। मतंग ने षड्जादि को क्रमशः मोर, चातक, अजा, क्रौंच, कोयल, मेण्ढक तथा हाथी की ध्वनि से निर्देशित किया है।[४] संगीतरत्नाकरकार ने भी मयूर, चातक आदि कहकर मतंग का ही अनुसरण किया है।[५] जिसमें किंचित् अंतर है।

१- त्रि०र०- पृ० १६
२- १।५।३-४
३- सा०शि० श्लोक ८-६ पृ० ५-६
४- बृहद्देशी पृ०-६
५- सं०र० १ १।३ ४६-४७ पैवार्द्ध-उत्तरार्ध

- स्वराध्याय -

कल्लिनाथ ने इसे स्वरज्ञान का लौकिक उपाय बताया है ।[१] सिंहभूपाल ने स्वरों के ज्ञानार्थ मयूरादि को असाधारण उच्चारणकर्ता बताया है ।[२]

संगीत-स्वरों के स्वरूप ज्ञानार्थ उपर्युक्त उपाय आधुनिक युग में पर्याप्त नहीं माने जा सकते । पशु पक्षियों की बोली से स्वरों का यथार्थ स्वरूप समझना दुष्कर तथा हास्यास्पद है। क्योंकि इन प्राणियों की - बोलियों और सप्त स्वरों के बीच कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है और फिर, जीवधारी सदा एक ही तारता में नहीं बोलते । कोयल का पंचम भी वैज्ञानिक दृष्टि से भ्रामक है । कारण कोयल की आवाज एक से अधिक स्वरों को प्रकट करती है । अत: जर्मन विद्वान् आर०सीमन ने पशु पक्षियों के आधार पर सप्त-स्वर-विधान, मूर्खतापूर्ण प्रयास बताया है -

" It is remarkable that these fine shruti - systemists were so foolish as to use Crulems and Cuckoo's calls, and at the same time the word-stress for the fixation of the intervals. "[1]

स्वरों के देवता-ऋषि -

सप्त स्वरों को देवताओं से सम्बद्ध करते हुये शिक्षाकार ने षड्ज का देवता ब्रह्मा, ऋषभ का अग्नि , गान्धार की गौ (गाय) मध्यम का ब्रह्मा, पंचम के ब्रह्मराट (ब्रह्मों के राजा)तथा धैवत और

१- कल्लिनाथ टीका सं०र० १ पृ०६१
२- सिंहभूपाल टीका वही पृ०-६३
३- पुष्पसूत्र (फुल्लसूत्र) ५२३

- स्वराध्याय -

निषाद का देवता सूर्य है ।[१]

टीकाकार ने - " आदित्योऽस्य धैवतस्य निषादस्य देवतमित्यर्थः"
कहकर स्पष्ट कर दिया है ।[२] इन स्वरों के अधिष्ठातृ देवता के अतिरिक्त
स्वरों के दृष्टा कृषियों का भी नारदीया शिक्षा में वर्णन उपलब्ध है ।
अग्नि षड्ज के, कृषभ के ब्रह्मा, गान्धार के सोम, मध्यम के विष्णु, पंचम के
नारद और धैवत-निषाद के तुम्बुरु गायक हैं ।[३]

संगीत सम्बन्धी शीर्षस्थ ग्रन्थों में भी स्वरों के देवताओं और कृषियों के
वर्णन करने की परम्परा दृष्टव्य है । संगीत रत्नाकर में वर्णित देवता
कृषि इत्यादि शिक्षा में वर्णित देवतादि से पृथक् हैं ।[४] बृहद्देशी में
भी सप्त स्वरों के देवताओं व कृषियों के देवता वर्णित हैं ।[५] इसी भांति
संगीत सम्बन्धी अन्यान्य ग्रन्थों में भी देवता व कृषि सम्बन्धी चर्चा
उपलब्ध हो जाती है ।

पंचम के गायक नारद बताये गये हैं । यह शिक्षाकार नारद से पृथक् जान
पड़ते हैं । नारदीया शिक्षा में नारद का उल्लेख कई स्थानों पर किया
गया है । यथा - १।५।१५, १।२।२, १।२।७, २।७।११ शिक्षा में
उपलब्ध नारद, शिक्षाकार से पृथक् जान पड़ते हैं, क्योंकि अपना उदाहरण
स्वयं कोई प्रस्तुत नहीं करता ।

इन देवतादि का जो निरूपण ग्रन्थों में किया गया है ।

- -

१- ना०शि० १।५।१४-१६, १८
२- वही टीका १।५।१८
३- ना०शि० १।५।१२-१३
४- सं० र० १ ३।५६-५८
५- बृहद्देशी श्लोक ७६-८६

इसकी उपयोगिता क्या है ? सिंह भूपालने स्वरोपासना में इनका स्मरण करना चाहिये ऐसा निर्देश दिया है ।[1]

स्वरों के रंग -

नारदीया शिक्षा में षड्ज का पद्मपत्र के समान (लाल) ऋषभ का शुक पिंजर, गान्धार का कनक के सदृश्य, मध्यम का कुन्द के समान (श्वेत), पंचम का कृष्ण, धैवत का पीत और निषाद को सर्ववर्ण अर्थात् सभी रंगों वाला बताया है ।[2] स्वरों के रंगों की चर्चा संगीत सम्बन्धी अन्यान्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध है । बृहद्देशी में षड्जादि को क्रमशः पद्मपत्र वर्ण, तथा सर्ववर्ण बताया है, जो नारदीया शिक्षा के अनुकूल है।[3] रत्नाकर में भी स्वरों के रंगादि का विवेचन उपलब्ध है ।[4] अहोबल ने षड्जादि के क्रमशः कमलवर्ण, पिंजर, स्वरवर्ण, कुन्द समान श्वेत, श्यामवर्ण, पीतवर्ण, कुर्बुर (बहुरंगी) वर्ण बताये हैं ।[5]

स्वरों का रंग सम्बन्धी विवेचन शिक्षा तथा संगीतकारों ने प्रायः एक सा ही किया है ।

स्वरों की जाति -

शिक्षाकार नारद ने षड्ज, मध्यम, पंचम की जाति ब्राह्मण ऋषभ धैवत की क्षत्रिय तथा गान्धार-निषाद की जाति आधी शूद्र

- -

१- सं०र० १ टीका पृ०-९७
२- ना०शि० १।४।१२
३- बृहद्देशी श्लोक ७७-७९
४- सं०र० १ ३।५४-५५
५- सं०पा० श्लोक ८८-८९ पृ० २५

- और आधी वैश्य बतायी गयी है ।[1] गान्धार-निषाद को आधा वैश्य आधा शूद्र कहने से, सम्भवत: इनका दूसरे स्वरों के क्षेत्र में प्रवेश करने से रहा हो । इससे अन्तर गान्धार और काकलि निषाद की ओर सम्भवत: ग्रन्थकार का संकेत हो । शारंगदेव ने सा , म , प को ब्राह्मण, रे, ध को क्षत्रिय तथा ग नि को वैश्य बताया है । तथा अन्तर गान्धार काकलि निषाद को शूद्र बताया है ।[2] अर्थात् गान्धार - निषाद की जाति वैश्य और शूद्र दोनों हुयी, जैसा कि शिक्षाकार नारद ने बताया है । याज्ञवल्क्य ने सप्त स्वरों की अपेक्षा उदात्तादि की जाति बताते हुये , उदात्त को ब्राह्मण अनुदात्त को क्षत्रिय तथा स्वरित को वैश्य बताया है ।[3] इसके अनुसार सा, म, प जिन्हें ब्राह्मण बताया गया है, वे वैश्य हैं । ग नि ब्राह्मण हैं जबकि ग नि की जाति वैश्य और शूद्र बतायी गयी है । रे , ध को क्षत्रिय बताया है । रे ध की जाति ही अन्य ग्रन्थों में वर्णित जाति से साम्य रखती है । पारिजातकार ने सा म प को ब्राह्मण, रे, ध को क्षत्रिय, ग नि को वैश्य तथा विकृतस्वरों को शूद्र जाति का बताया है ।[4] भरतभाष्य में सा, म ,प को ब्राह्मण रे ध को क्षत्रिय ग नि को वैश्य तथा पतित होने के कारण इन्हें शूद्र भी कहा है ।[5]

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट होता है कि स म प को सबसे अधिक महत्त्व प्राप्त था, इसके पश्चात रे, ध का स्थान है , जिन्हें ग्रन्थकारों ने क्षत्रिय बताया है । रे, ध के पश्चात ग नि का स्थान महत्त्व की दृष्टि से निर्धारित किया गया है । श्रुति संख्या के दृष्टिकोण से यदि विचार

१- ना०शि० १।४।३-४
२- सं०र० १ ३।५३-५४ पृ०६६
३- या०शि०श्लोक ३-४
४- सं०पा० श्लोक ८६ पृ०-२५
५- भ०भा० १ ३।५-६ पृ०६३

किया जाय तो यही क्रम आयेगा सा म प चार श्रुतिक होने से ब्राह्मण, रे ध त्रिश्रुतिक होने से क्षत्रिय और ग नि दो श्रुतिक होने से वैश्य बताये गये हैं । ग नि के सन्दर्भ में एक तथ्य और उल्लेखनीय है कि इन्हें शूद्र भी कहा गया है । सम्भवत: ग नि का पतित रूप ज्यादा महत्वपूर्ण न रहा हो । भरतभाष्य के टीकाकार ने इस सन्दर्भ में अपने विचार प्रस्तुत करते हुये कहा -

" अन्तर-काकली को अर्धस्वर तथा शूद्र (दास के समान) कहा गया है । जिससे सिद्ध होता है कि प्राचीन शास्त्रकार अन्तर-काकली को महत्त्व के स्वर नहीं मानते थे ।[१]

स्वर सारणा -

स्वरों का मानसिक प्रत्यक्ष तो किया जा सकता है, किन्तु उनका दृष्टि-प्रत्यक्ष सामिक-स्वर-सारणा द्वारा ही सम्भव है । ये सामिक स्वर 'गात्रवीणा' द्वारा ही प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं। नारद ने सामिकी, गात्रवीणा बतायी है, तथा उसका लक्षण भी बताया है ।

> दारवी गात्रवीणा च द्वे -- -- -- -- -- ।
> 'गात्रवीणा तु सा प्रोक्ता यस्यां गायन्ति सामगा: :
> स्वरव्यंजनसंयुक्ता अंगुल्यगुष्ठरंजिता ।।[२]

अर्थात् गात्रवीणा वह है जिसमें साम गायक गान करते हैं, जो स्वरतथा व्यंजन से युक्तहै तथा अंगुलियों और अंगुष्ठ से रंजित है । हस्त द्वारा अध्यापन करने

१- भ०भा० टीका १ पृ०-६३

२- ना०शि० १।६।१-२

का निर्देश देते हुये कहा गया है -

"हस्तेनाध्याययेच्छिष्यान् शिक्षेण विधिना द्विजः ।।"[१]

वाणी के साथ-साथ उसी के अनुकूल हस्त-चालन भी करना चाहिये - अर्थात् मुख से उच्चारण और हस्त-चालन दोनों साथ-साथ प्रतिपादित करना चाहिये आगे-पीछे नहीं । -

"सममुच्चारयेद् वाक्यं हस्तेन च मुखेन च ।"[२]

हस्त द्वारा अध्ययन जो व्यक्ति करता है वह ऋक्, यजु तथा साम से पवित्र होकर ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है ।[३ क-ख] इत्यादि शिक्षाकारों के वचन से स्पष्ट है कि हस्त द्वारा वेदाध्ययन ही सम्यक् लौकिक और अलौकिक फल दाता है। हस्तहीन अध्ययन की निन्दा करते हुये उससे विकृत योनि प्राप्त होती है,[४] अखाद्य को खाया हो[५] इत्यादि विवेचन शिक्षादि में यत्र-तत्र उपलब्ध है । आज भी वेदपाठी तथा सामगायक ऋचाओं का गान अथवा पाठ करते हुये हस्तचालन अवश्य करते हैं । वर्तमान समय में शास्त्रीय संगीत गायकों को भी हस्तचालन करते देखा जा सकता है, यद्यपि शास्त्रीय गायन में हस्तचालन का कोई नियम प्रतिपादित नहीं किया गया है । हस्त-चालन की प्रक्रिया स्वाभाविक ही हो जाती है ।

नारदीया शिक्षानुसार 'क्रुष्ट' का मूर्धा, 'प्रथम' का ललाट, 'द्वितीय' का भ्रूमध्य, 'तृतीय' का कर्ण, 'चतुर्थ' का कण्ठ, 'मन्द्र' का उर और 'अतिस्वार' का हृदय में स्थान है ।[६] अर्थात् तत्-तत् स्वरों का उच्चारण

- -

१- ना०शि० १।६।२२ उत्तरार्ध
२- वही १।६।१४ पूर्वार्ध
३- (क) पाणिनि शि० श्लोक-५५
(ख) या०शि० श्लोक-४५
४- पा०शि० श्लोक ५४
५- या०शि० श्लोक ३९-४०
६- ना०शि० १।७।१-२

करते समय उन-उन स्थानों तक हस्त प्रक्षेप करना चाहिये । उपर्युक्त स्वरों का स्थान गात्रवीणा में सामिक स्वरों की तारता के हिसाब से बताया गया प्रतीत होता है । इन स्वरों की अंगुलियों में स्थिति बताते हुये शिक्षाकार ने अंगुष्ठ के उत्तम भाग में 'क्रुष्ट', अंगुष्ठ में 'प्रथम' स्वर, तर्जनी में 'गान्धार', मध्यमा में 'ऋषभ,' अनामिका में 'षड्ज,' कनिष्ठा में 'धैवत' और उसके नीचे 'निषाद' की स्थिति बतायी है ।[१] नारदीया शिक्षा की उपर्युक्त स्वर सारणा में कनिष्ठा और अंगुष्ठ में क्रमशः नि, ध, म प दो-दो स्वरों की स्थिति बतायी है । एक-एक स्वर और लगाया गया प्रतीत होता है । जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है कि क्रुष्ट (प) और अतिस्वार (नि) से मिलकर पांच सामिक स्वर सात हो गये ।

माण्डूकी शिक्षा में भी स्वरों की अंगुलियों में यही स्थिति बतायी है । क्रुष्ट को छोड़कर शेष स्वरों के लौकिक नाम मध्यम गान्धार ऋषभ षड्ज धैवत निषाद बताये गये हैं ।[२]

नारदीया शिक्षा में भी स्वरों की सारणा में दो स्वरों के नाम क्रुष्ट प्रथम वैदिक दिये हैं शेष गान्धार , ऋषभ, षड्ज , धैवत निषाद लौकिक स्वरों के नाम दिये हैं , किन्तु इनका क्रम सामवैदिक स्वरों की भांति ही बताया गया है ।

अन्यान्य शिक्षा ग्रन्थों में भी स्वर सारणा तथा हस्तप्रक्षेप सम्बन्धी विवरण प्राप्य है किन्तु वह पर्याप्त, नहीं है फिर भी उससे प्रस्तुत प्रसंग में उपर्युक्त विधियों को समझने में सहायता मिल सकती है । पाणिनि शिक्षा में तत्सम्बन्धी विवरण निम्नलिखित है । अंगुष्ठ के अग्र भाग को तर्जनी के

१- ना०शि० १।७।३-४
२- मा०शि० २।१५-१६

- स्वराध्याय -

पर्व स्पर्श द्वारा उदात्त स्वर का, अनामिका-मध्य भाग द्वारा स्वरित का और कनिष्ठा द्वारा अनुदात्त का बोध कराया जाता है ।[1] एक अन्य श्लोक में उंगलियों द्वारा स्वर संकेत इस प्रकार बताया गया है । तर्जनी से उदात्त , मध्यमा से प्रचय ,अनामिका से स्वरित और कनिष्ठा से अनुदात्त स्वर को बताया गया है ।[2] इसी प्रकार हस्त-प्रक्षेप के विषय में यह निर्देश है कि अनुदात्त हृदय, उदात्त मूर्धा, स्वरित कर्णमूल, और प्रचय मुख-प्रदेश तक हाथ ले जाकर दर्शाना चाहिये । याज्ञवल्क्य तथा अन्य शिक्षाओं में भी स्वर के निर्देशन हेतु हस्तप्रक्षेप की चर्चा देखी जा सकती है, किन्तु सभी शिक्षाओं में तत् विषयक मतैक्य नहीं जान पड़ता । याज्ञवल्क्य ने यथा वाणी तथा पाणी[3] कह कर पूरे प्रकरण का सार तत्व बता दिया है । वस्तुत: जिस प्रकार से स्वर का उतार चढ़ाव होता है उसी प्रकार से हस्त का भी होना चाहिये । आजकल भी जो स्वाभाविक रूप से हस्तप्रक्षेप की क्रियायें शास्त्रीय गायकों द्वारा की जाती हैं, वे इसी सिद्धान्त पर आधारित हैं। इन क्रियाओं द्वारा जहां गायक को स्वर लाने में मदद मिलती है वहीं संगतकार और श्रोताओं को भी गाये जाने वाले स्वर-सन्निवेश को ग्रहण करने में सरलता हो जाती है । स्वर की स्थिति के समय तदनुसार हस्त - स्थिति होनी चाहिये और विश्रान्ति के समय हस्त को यथा स्थान विश्रान्ति की मुद्रा में रखना चाहिये जिस प्रकार बाण चलाने के लिये धनुष की डोरी तान ली जाती और तत्पश्चात् वह डोरी अपने निर्धारित स्थान पर आ जाती है उसी प्रकार हस्त का भी संचालन होना चाहिये ।[4]

शिक्षाकार ने जहां हस्तचालन आवश्यक माना है, वहीं इस बात का स्मरण रखना भी आवश्यक है कि वह नियन्त्रित एवं स्वर-प्रदर्शक रूप में होना चाहिये

१- पा०शि० श्लोक ४३ पृ०४७
२- वही श्लोक ४४
३- या०शि० श्लोक ४७ पृ० ३३
४- वही ४८

- स्वराध्याय -

क्योंकि अनियन्त्रित हस्त संचालन हास्यास्पद तथा सौंदर्यहीन तो लगता ही है साथ ही साथ स्वर की स्थिति का ज्ञान भी उससे नहीं होता जो उसका प्रमुख उद्देश्य है। देसाईजी का मत इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है। उनके अनुसार -

" यहाँ धारणा से अभिप्राय एक प्रकार के स्वरलेखन - ( ) से हैं। "[१] वस्तुत: यह धारणा स्वर-लेखन का प्रयोगात्मक रूप है, जो दृश्य और श्रव्य उभय रूप है।

स्वरांकन विधि -

सामसाहित्य की स्वरांकन विधि संसार की प्राचीनतम विधि मानी जाती है। यद्यपि यूनानी तथा चीनी सभ्यताओं में संगीत चर्चा है, किन्तु स्वरांकन विधि का वहाँ प्राय: अभाव है, और जो कुछ चिन्ह मिलते हैं, वे नितान्त अपार्यप्त हैं। यद्यपि सामिक स्वरांकन विधि भी पूरी तरह संगीतगत सूक्ष्म विशेषताओं को प्रदर्शित करने में सक्षम नहीं कही जा सकती किन्तु फिर भी उसका जो विकसित रूप आज प्राप्य है, और जिसे ठीक से समझने का प्रयास तत्सम्बन्धी शोधार्थी कर रहे हैं, वह भारतीय संस्कृति में आस्था रखने वालों के लिये आत्म गौरव की बात है।

वेद तथा ब्राह्मण साहित्य में आज भी खड़ी लकीर, पड़ी लकीर तथा संख्याओं के द्वारा उनका स्वर सम्बन्धी स्वरूप देखा जा सकता है। साम के गानग्रन्थों में एक से सात तक अंकों का प्रयोग प्राप्त होता है, ये अक्षरों के ऊपर तथा मध्य दोनों स्थानों में प्रयोग किये हुये देखे जा सकते हैं। जिस प्रकार स्वरोच्चारण काल में हस्तचालन द्वारा तत् तत् स्वरों को प्रदर्शित

१- म०भा० टीका पृ०४६

प्रदर्शित किया जाता है । उसी प्रकार लेखन में उदात्तादि स्वर चिन्हों द्वारा प्रदर्शित किये जाते हैं । स्वरों के परिचायक चिन्हों से सम्बन्धित - निम्नलिखित श्लोक दृष्टव्य है -

" ऊर्ध्वरेखा तु वर्णस्य मूर्ध्नि तिष्ठति या स्थिरा ।
तामुदात्तं विजानीयात् द्विस्वरे स्वरितं तु ताम ।।
तिर्यग्रेखा च वर्णस्य पादपार्श्वे स्थिता तु या ।
अनुदात्तं विजानीयात्स्वरितं वा सहायतः ।।
वर्णस्य वर्तुलाकारं पदे तिष्ठति केवलम् ।
स्वरितं तु विजानीयात्तद्विद्भिरुदीरितम् ।।[1]

उपर्युक्त श्लोक से स्वर चिन्हों के दो रूप सामने आते हैं एक खड़ी रेखा दूसरी तिर्यक् रेखा , इन चिन्हों का प्रयोग निम्नलिखित ऋचा द्वारा स्पष्ट है ।

" अग्निमीळे पुरोहितम् यज्ञस्य देवमृत्विजम् । [2]

चिन्हों के रेखात्मक स्वरूप के अतिरिक्त संख्यात्मक चिन्ह भी उपलब्ध हैं, जिनका प्रयोग सामगान ग्रन्थों में उपलब्ध है । स्वरांकन चिन्ह के रूप में एक से सात तक के अंकों का उपयोग किया गया है। इन अंकों का प्रयोग अक्षरों के ऊपर तथा बीच में दोनों प्रकार से किया जाता है । अक्षरों के ऊपर अंकन स्वरों की शुद्धावस्था का द्योतक है, और बीच में अंकन स्वरों की विकृतावस्था को सूचित करता है। क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय,तृतीय,चतुर्थ, मन्द्र, अतिस्वार्य, इनका निर्देश क्रमशः ७, १, २, ३, ४, ५, ६ से किया जाता है इन अंकों के अतिरिक्त स्वरों के दीर्घ संकेत के लिये उच्च स्वर,नीच स्वर इत्यादि दर्शाने के लिये कुछ अन्य चिन्हों का प्रयोग किया गया है ।[3] यथा -

- -

१- मल्लशर्म शिक्षा श्लोक-२८-३१
२- ऋग्वेद १।१।१
३- द्र०सामवेद गान ग्रन्थ भूमिका सातवलेकर

- स्वराध्याय -

'र' अक्षर के विशिष्ट स्वर को दीर्घ करना ।

'उ' उच्च स्वर ।

'क' नीच स्वर ।

'-' स्वर को बढ़ाना ।

'^' पूर्ववर्ती वर्ण की ध्वनि अग्रिम अवग्रह (ऽ) तक जारी रखना ।

'ऽ' पूर्ववर्ती वर्ण की ध्वनि को जारी रखना ।[1]

वर्तमान भारतीय संगीत में भी अनेक स्वरांकन विधियाँ प्रचलित हैं जिनमें उपर्युक्त वैदिक चिन्हों का प्रयोग कुछ सीमा तक देखा जा सकता है । उदाहरणार्थ भातखण्डे की स्वरांकन पद्धति में मध्यम की तीव्रता दर्शाने के लिये उसके ऊपर खड़ी रेखा का प्रयोग प्रचलित है । इसी प्रकार स्वर की कोमलता दर्शाने के लिये आड़ी रेखा का प्रयोग होता है। इसी प्रकार कुछ स्वरलिपियों में एक,दो जैसी संख्याओं को प्रयोग भी मिलता है । यद्यपि सामिक स्वरांकन विधि में जिस निमित्त इन चिन्हों का प्रयोग होता था,आजकल ठीक उसी अर्थ में नहीं होता किन्तु चिन्हों की सादृशता वर्तमान शास्त्रीय संगीत पर वैदिक प्रभाव को संकेत करती है ।

शिक्षा एवं प्रातिशाख्य ग्रन्थों में यद्यपि किसी स्वरांकन विधि का स्पष्ट निर्देश नहीं है मिलता सम्भव है कि नारद इत्यादि शिक्षाकार पूर्ववर्णित वैदिक (सामिक) स्वरांकन पद्धति के समर्थक रहे हों ।

- -

१- भा०सं०इ० परांजपे पृ०-६८

- स्वराध्याय -

और सांमिक स्वरांकन पद्धति का प्रभाव तो पहले ही दर्शाया जा चुका है
अतः उस प्रचलित पद्धति का उल्लेख उन्हें आवश्यक नहीं जान पड़ा, पुनश्च
शिक्षा में वर्णित प्रमुख विषयों में भी इसका सामावेश न होने से स्वरांकन
विधि का उनमें उल्लेख न होना स्वाभाविक है ।

- ० -
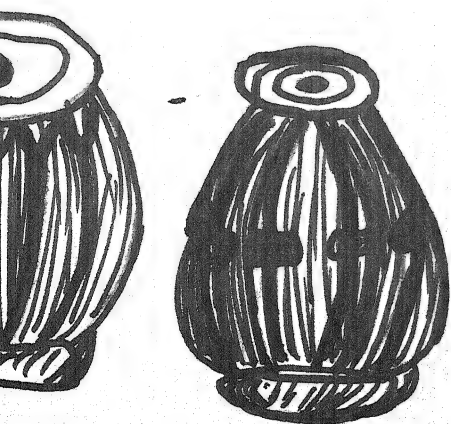
- तालाध्याय -

ताल का संगीत में उतना ही महत्त्व है, जितना छन्द का पद्य काव्य में । छन्द को वेद का पैर कहा गया है -

" छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।[1]

पैरों से ही स्वाभाविक गति सम्भव है और गति ही जीवन है । छन्द की निरुक्ति - ' छादनात् छन्दः ' है ।[2] अर्थात् जो ढके वह छन्द है । छन्द का अर्थ ढंकनाभी है ।[3] छन्द का अर्थ वश में करना बताया गया है ।[4] चूंकि छन्द से अक्षरों को वश में किया जाता है , ढका जाता है । अतः उन्हें छन्द कहना सार्थक है । ऋग्वेद प्रातिशाख्य में जिनकी मात्रायें निश्चित हैं, ऐसे छन्दों का उपदेश दिया जाता है, बताया गया है ।

" एवं क्लृप्तप्रमाणानां छन्दसामुपदिश्यते ।"[5]

उपर्युक्त सूत्र से ताल के सन्दर्भ में यही निष्कर्ष है कि छन्दों की भांति ताल में भी मात्रायें निश्चित होती हैं ।

शिक्षादि ग्रन्थों में ' ताल ' शब्द नहीं आया है । गान के चौदह दोषों में ' तालुहीनं ' प्रयुक्त किया गया है[6] सम्भवतः तालहीन गान का ही इससे निर्देश किया गया है ।

१- पा०शि० श्लोक-४१
२- निरुक्त
३- सं०श०कौ० पृ०-४५३
४- वही
५- ऋ०प्रा० १७(२)।१ पृ०-८२५
६- ना०शि० १।३।१२

- तालाध्याय -

टीकाकार ने वृत्तियों के अनियमित प्रयोग को तालुहीन बताया है[1] ताल की व्युत्पत्ति नारदीयादि शिक्षाओं में उपलब्ध नहीं है । संगीतरत्नाकर में ताल की व्युत्पत्ति दर्शाते हुये - प्रतिष्ठार्थ में तल धातु से घञ् प्रत्यय लगाकर ताल की व्युत्पत्ति बतायी है ।

" तालस्तलप्रतिष्ठायामिति धातोर्घञि स्मृत: ।
गीतं वाद्यं तथा नृत्यं यतस्ताले प्रतिष्ठितम् ।।"[2]

' संगीत मकरन्द ' में ' ताल ' की व्युत्पत्ति ' संगीत रत्नाकर ' जैसी ही बतायी गयी है ।

ताल की व्युत्पत्ति ' ताण्डव ' (शिव द्वारा किया गया नृत्य) नृत्य के ' ता ' ' लास्य 'नृत्य (पार्वती द्वारा किया गया नृत्य) के ' ल ' से मिलकर हुयी है ।[3]

ताल शब्द सम्भवत: ' तल ' शब्द से बना होगा जिसका अर्थ हथेली है ।[4] तथा ' मार्गी ' ताल का निर्देश भी विभिन्न हस्तसंचालन द्वारा बताया गया है । आज भी दक्षिणी संगीत में हाथों से ताल देने की परम्परा वर्तमान है । अर्थात् हाथों के तलों द्वारा ताली देने पर ' ताल ' बना होगा । अभिनव गुप्त ने ' ताल ' शब्द स्पष्ट करते हुये कहा है -

" करतलपरिच्छेदरूपत्वात्तले भवतीत्यपि ताल शब्द: ।[5]

- -

१- ना०शि०टीका १।३।१२ पृ०-२२
२- सं०र०भाग ।।। श्लोक-२
३- ' मृदंगमंजरी ' पृ०-२७
४- सं०श०को० पृ०-४६२
५- अभिनव गुप्त टीका ना०शा० ३१।२६ पृ०-१६२

- तालाध्याय -

अर्थात् करतलों के परिच्छेदक रूप होने के कारण ये ताल शब्द है तथा तल में होता है, इसलिये भी ` ताल ` है ।

` क्रियाविशेषावच्छेदाद् यो नियमो ऽनुवर्तमानः स्थिर-
शीघ्रमध्यरूपो लयस्ताल इति ।` [१]

अभिनव गुप्तानुसार ` ताल ` का निर्वाह करतलों द्वारा भी होता है । ` ताल ` में (आवापादि) क्रिया विशेष है । इसमें एक नियम है तथा स्थिर, शीघ्र मध्यादि लय हैं । उपर्युक्त सभी बातें ` ताल ` में हैं । श्री मत्स्यमहापुराण में ` ताल ` का उल्लेख प्रतिमा नापने के सन्दर्भ में हुआ है । ` ताल ` का अर्थ वहां अंगुष्ठ से मध्यमा अंगुली तक फैले करतल से सम्बन्धित है ।[२] ताल और लय का जल और तरंग जैसा सम्बन्ध है । डा० सेन ने ताली द्वारा लय निर्वाह की प्रणाली को सबसे प्राचीन बताया है ।[३] डा० सेन ने साहित्य में छन्द का और संगीत में ताल का जन्म स्वाभाविक रूप से होने की सम्भावना को व्यक्त करते हुये कहा -

` साहित्य में छन्द का एवं संगीत में ताल का जन्म स्वाभाविक रूप से हुआ होगा ।` [४]

डा० सेन के अनुसार ताल और छन्द स्वरों को गति प्रदान करते हैं । -

"संगीत में छन्द और ताल ही यथार्थतः स्वरों को गति प्रदान करते हैं"। [५]

संगीत का छन्द , ताल को बताते हुये विश्व संगीत के क्रमिक विकास में इसका महत्त्व बताया है -

- -

१- अभिनवगुप्त टीका ना०शा० ३१।६ पृ०-१५४
२- श्री मत्स्यपुराण - २५८।१६
३- भा०ता०शा०वि० पृ०-६०
४- वही पृ०-५०
५- वही पृ०-४६

- तालाध्याय -

" वास्तव में संगीत का छन्द ताल है और यह केवल भारतीय संगीत ही नहीं बल्कि विश्व के संगीत के क्रमिक ऐतिहासिक विकास में निहित है ।" १

निरुक्त की वृत्ति में दुर्गाचार्य द्वारा उद्धृत ब्राह्मण वचन से स्पष्ट है कि छन्द बिना,वाणी का उच्चारण नहीं हो सकता ।

" नाच्छन्दसि वागुच्चरति " २

कात्यायन मुनि के वचन इसी बात की पुष्टि करते हैं -

" छन्दोभूतमिदं सर्वं वाङ्मयं -- -- -- --[३]

भरत का वचन भी वाक् और छन्द की अभिन्नता को सिद्ध करने वाला है ।

" छन्दोहीनो न शब्दो ऽस्ति न च्छन्दश्शब्दविर्जितम् " ।[४]

अर्थात् छन्दहीन ध्वनि नहीं है और ध्वनि रहित कोई छन्द नहीं है । इससे निष्कर्ष यह है कि ध्वनि काव्यात्मक हो या संगीतात्मक वह छन्दहीन नहीं है । और छन्द (संगीत में हो या काव्य में) ध्वनि रहित नहीं है । मतंग ने ध्वनि से आक्रान्त सम्पूर्ण जगत को बता दिया है[५] तो संसारस्थ ताल और छन्द ध्वनि रहित कैसे हो सकते है ? सूर्य का उदय और अस्त होना छन्द में ही होता है । उसमें भी एक गति और छन्द है । ताल और छन्द कहने को दो नाम हैं, किन्तु कार्य दोनों का एक है । ताल स्वरात्मक नाद को निबद्ध करता है, और छन्द वर्णात्मक नाद को । वर्णात्मक नाद अपने

- -

१- भा०ता०शा०वि० पृ०-५४
२- निरुक्त ७।२ वृत्ति
३- ऋग्यजुष
४- ना०शा० १४।४५
५- बृहद्देशी श्लोक-११

- तालाध्याय -

छन्द सहित स्वरात्मक नाद से मिलकर संयुक्त रूप धारण करके , ताल द्वारा निबद्ध हो कर गान्धर्व की अभिव्यक्ति करता है । जैसा कि दत्तिल ने कहा है । -

" पदस्थस्वरसंघातस्तालेन सुमितस्तथा ।
प्रयुक्तश्चावधानेन गान्धर्वमभिधीयते ।।[१]

मात्र, नाम का अन्तर है, ताल और छन्द में, काम का नहीं । डा० सेन तथा एस०चौधरी ने छन्द और ताल के साम्य को दर्शाते हुये कहा -

" काव्य में जो छन्द है, संगीत में वही ताल है । "[२]

-- -- -- -- --

" संगीत में जो स्थान ताल का है वही काव्य में छन्द का है । ताल के द्वारा संगीत का और छन्द के द्वारा काव्य का मान होता है ।[३]

किन्तु प्रश्न ये है कि क्या संगीत में काव्य नहीं है ? या काव्य में संगीत नहीं है ? संगीत शब्द ही बता रहा है कि " गीत " अर्थात् उसमें काव्य है। इसी प्रकार काव्य में भी " संगीतानुभूति होती है। वास्तव में संगीत में भी छन्द ही है । सम्भवत: संगीतात्मक छन्द की अभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त क्रिया का नाम ताल है । सम्भवत: हाथों के तल द्वारा संगीतात्मक छन्द की अभिव्यक्ति की जाती रही होगी । दूसरे शब्दों में संगीतात्मक छन्द का प्रायोगिक व दृश्यरूप ताल है ।

तालज्ञ तथा छन्दज्ञ अप्रयास ही मोक्ष प्राप्त करते हैं ।
" तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं स गच्छति ।"[४]

१- दत्तिल मु श्लोक-३
२- भा०ता०शा०वि० पृ०-३७१
३- 'काव्य और संगीत में छन्द' लेख पृ० १ डा० एस०चौधरी
४- याज्ञवल्क्य स्मृति

- तालाध्याय -

ऋग्वेद प्रातिशाख्य में भी बताया गया है कि छन्दों को जानने वाला प्राणि स्वर्ग को जीत लेता है अमृतत्व को प्राप्त करता है । -

" यश्छन्दसां वेद विशेषमेतं भूतानिव त्रैष्टुभजागतानि।
सर्वाणि रूपाणि च भक्तितो यः स्वर्गं जयत्येभिरथामृतत्वम्।"[१]

भरत ने ताल न जानने वाले को गायक और वादक नहीं माना है ।

"" यस्तु तालं न जानाति न स गाता न वादकः ।[२]

नाट्यशास्त्रकार ने ताल के अन्तर्गत तीन अंग बताये गये हैं -

" अंगभूताहि तालस्य यतिपाणिलयाः स्मृताः ।[३]

भरत के उपर्युक्त वचनानुसार स्पष्ट है कि केवल यति ताल नहीं है, न केवल पाणि ही ताल है और न मात्र लय ही ताल है। वरन् तीनों का सम्मिलित रूप ही ताल है । अभिनव गुप्त के अनुसार -

" न च लयमात्रस्तालः ।[४]

अभिनवगुप्त ने (गोपुच्छादि) लय के नियम विशिष्ट को ताल कहा है- " नियमविशिष्टो लयस्ताल इति"[५] कुछ मनीषि ' पाणि और ताल को एक ही कहते हैं ।[६] (' पाणि ' को ताल मानने पर) अभिनवगुप्तानुसार " विशिष्टक्रियापरिच्छेद्यो यथवच्छिन्नो लयस्ताल इति" है

- -

१- ऋ०प्रा० १८।६२
२- ना०शा० ३१।३६८
३- वहीं ३१।३६६
४- वही अ०गु० टीका पृ०-२८४
५- वही अ०गु० टीका
६- 'दत्तिलम्' श्लोक-१५३

- तालाध्याय -

छन्दों के परिमापक -

काल को नापने के लिये मात्राओं को बताया गया है ।

' मात्रा च परिमाणे '[१]

शिक्षादि ग्रन्थों में एक मात्रा को हृस्व दो को दीर्घ और तीन मात्रा के लिये प्लुत शब्द का प्रयोग किया गया है । -

'एक मात्रो भवेदहृस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते ।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यंजनं चार्धमात्रिकम् ।।[२]

लोमशी शिक्षा में भी इसी तथ्य को बताया गया है ।[३]

पाणिनि शिक्षा में भी कालानुसार स्वरों के हृस्व, दीर्घ प्लुत तीन भेद बताये गये हैं ।

' हृस्वो दीर्घ प्लुत इति कालतोनियमा अचि' ।[४]

वर्णरत्न-प्रदीपिकाशिक्षा में भी एक मात्रा को हृस्व दो मात्रा को दीर्घ तथा तीन मात्रा को प्लुत और व्यंजन को अर्द्ध मात्रिक बताया है ।[५]

शौनकीय शिक्षा में भी ' हस्वो दीर्घः प्लुत इति स्वराः कालेन संज्ञिताः ।[६]

अर्थात् कालानुसार इनको हृस्व, दीर्घ, प्लुत संज्ञा है । मल्लशर्मकृत शिक्षा में भी यही प्रतिपादित किया गया है ।[७] शम्भु शिक्षा में भी हृस्व, दीर्घ (उच्च) प्लुत को क्रमशः एक, दो, तीन मात्रा का बताया है ।[८]

१- शु०य०प्रा० २।२६ पृ०५१
२- या०शि० श्लोक
३- लो०शि० श्लोक-१०
४- पा०शि० श्लोक-११
५- व०र०प्र०शि० श्लोक-२२
६- शौ०शि० पृ०-११
७- म०श०शि० श्लोक-४५
८- श०शि०

- तालाध्याय -

दीर्घ को 'उच्च' बताया है दीर्घ मात्रा में सम्भवत: ध्वनि उच्च हो जाती है। 'अ' और 'आ' स्वरकेउच्चारण में स्वाभाविक रूप से ध्वनि उच्च हो ही जाती है। सम्भवत: इसी कारण दीर्घ को 'उच्च' विशेषण भी दिया गया है। माण्डुकी शिक्षा में भी पलक के गिरने में जितना समय लगता है उसे एक मात्रा, दो मात्रा वाले वर्ण को दीर्घ और तीन मात्रा वाले को प्लुत बताया है।[१] शैशरीय शिक्षा में हृस्व दीर्घ प्लुत संज्ञा स्वरोच्चारण में लगने वाले काल के कारण है ऐसा स्पष्ट किया गया है। सन्ध्यक्षरों का काल दो और तीन मात्रा का बताया गया है, एक मात्रा का नहीं।[२]

इसी प्रकार व्यास, पाराशरी, लघ्वमोघानन्दिनी, सर्वसम्मतादि शिक्षा ग्रन्थों में भी मात्रा सम्बन्धी विवेचन उपलब्ध है।

शिक्षाओं के अतिरिक्त प्रातिशाख्यों में भी मात्रा सम्बन्धी विवेचन प्राप्य है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में एक, दो और तीन मात्रा वाले स्वरों को क्रमश: हृस्व, दीर्घ, प्लुत कहा गया है[३] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में हृस्व को मात्रा का पर्याय बताया है। हृस्व से दुगने काल वाला वर्ण दीर्घ संज्ञक और तिगुने कालवाला प्लुत संज्ञक होता है।[४]

ऋक्तन्त्र में मात्राओं का निर्देश करते हुये 'अकार काल को' मात्रा' उसके अर्द्ध काल को 'अणु' तथा वर्णान्तर को 'परमाणु' मात्रा बताया है।

'मात्रा ।। 'अर्द्धमणु ।।'[५]
'वर्णान्तरं परमाणु ।।'[६]

- -

१- मा॰शि॰ १३।१
२- शै॰शि॰
३- ऋ॰प्रा॰ १।२७,२९-३०
४- तै॰प्रा॰ पृ॰ ३१-३६
५- ऋ॰त॰ ५।२-१ पृ॰-११
६- वही ४।४ पृ॰१०

- तालाध्याय -

कृकतन्त्रभाष्य में कलाकी आधी मात्रा परमाणु बतायी गयी है । शिक्षादि ग्रन्थों में चार अणुओं की एक मात्रा बतायी गयी है, किन्तु कृकतन्त्र में मात्रा का आधा अणु बताया है इस दृष्टि से दो अणुओं की एक मात्रा हुयी । उपर्युक्त दो विभिन्न तत्त्वों से मात्रा का मान अलग-अलग प्रतीत होता है । नाट्यशास्त्र में पांच निमेष की एक मात्रा बतायी गयी है । -

' निमेषा: पंच मात्रा स्यात् ।।'[१]

अथर्ववेदीय प्रातिशाख्य' चतुरध्यायी ' के अनुसार एक मात्रा ह्रस्व, दो मात्रा दीर्घ और तीन मात्रा प्लुत कहलाती है ।[२] सामवेदीय कृकतन्त्र में भी मात्रा , दो मात्रा को दीर्घ और तीन मात्रा को वृद्ध बताया गया है ।[३] छन्दोग व्याकरण में ' अ ' काल वाले स्वर को ' ह्रस्व ' दो मात्रा वाले को दीर्घ और तीन मात्रा वाले स्वर को ' वृद्ध ' संज्ञा दी गयी है ।[४] इन दो ग्रन्थों में प्लुत की जगह वृद्ध संज्ञा का प्रयोग सम्भवत: मात्राओं की वृद्धि के कारण किया गया है । कातीय प्रातिशाख्य में भी ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत क्रमश: एक, दो तीन मात्राओं के बताये गये हैं । व्यंजन आधी मात्रा का बताया गया है । [५] ' उपलेख सूत्र ' में भी इसी तथ्य का स्पष्टीकरण किया गया है । [६] इन शिक्षादि ग्रन्थों में व्यंजन को अर्द्ध मात्रा का बताया गया है । इसके अतिरिक्त आधी की भी आधी

१- ना०शा० ३१।४
२- चतु० पृ० २०
३- कृ०त० दशक ५ पृ०-११
४- छ०व्या० पृ०-३
५- का०प्रा०
६- उ०सू० पृ०-३

- तालाध्याय -

मात्रा को अणु और अणु की भी आधी मात्रा को ` परमाणु ` संज्ञा दी गयी है ।

" तदर्द्धमणु तस्यार्द्धं परमाण्वभिधीयते । [1]

" तदर्द्धमणु ।। परमाण्वर्द्धाणु मात्रा ।। " [2]

कात्यायन प्रातिशाख्य में भी उपर्युक्ततथ्य को ही बताया गया है । [3]

प्राणियों की बोलियों के आधार पर मात्रा निर्धारण -

ताल का आधार मात्रा है । जिसे यों भी कहा जा सकता है कि मात्रा रूपी इकाई से ही तालचक्र की रचना होती है, किन्तु इस मात्रा के स्वरूप निर्धारण के लिये किसे आधार बनाया जाय, यह प्रश्न विचारणीय है । प्राचीन काल से ही हमारे आचार्यों ने मात्रा के ` वस्तुगत ` - (objective) पक्ष को ध्यान में रखते हुये, उसे जीवधारियों की बोलियों के माध्यम से समझने-समझाने का प्रयास किया । कुछ जीवधारियों की बोली कम समय की होती है अर्थात् वे अल्पकाल तक ही बोलते हैं तथा कुछ दीर्घ काल तक बोलते हैं । आम तौर पर कुछ जीवधारियों का ध्वनिकाल प्राय: समान प्रतीत होता है । अत: उनके द्वारा मात्रा का निर्धारण करना सहज ही समझ में आने वाली बात है । आजकल की भांति काल मापक सूक्ष्मयंन्त्रों के अभाव में उपर्युक्त प्रयास स्वाभाविक एवं तर्कसंगत है ।

शिक्षा ग्रन्थों में से याज्ञवल्क्य शिक्षा का कथन निम्नलिखित है ।

१- व०र०प्र०शि० श्लोक २२ पृ० ११६
२- शु०य०प्रा० १।५५-६१ पृ० ३५-३८
३- का०प्रा० पृ० २

- तालाध्याय -

' चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रां वायसोऽब्रवीत्।
मयूरस्तु त्रिमात्रां वै मात्राणामिति संस्थितिः ।।[१]

अर्थात् नीलकण्ठ एक मात्रा में कौआ , दो मात्रा में मयूर तीन मात्रा में बोलता है , मात्राओं की यह संस्थिति है । ऋग्वेदीय शिक्षा में इन तीन मात्राओं के अतिरिक्त अर्द्ध मात्रा का स्वरूप नेवल की ध्वनि से दर्शाया गया है । -

' चाषस्तु वदतेमात्रां द्विमात्रां त्वेववायसः
शिखी रौति त्रिमात्रं तु नकुलस्त्वर्द्धमात्रकं ।।[२]

इसके अतिरिक्त माण्डूकी शिक्षा में भी नीलकण्ठ एक मात्रा में, कौआ दो मात्रा में तथा मोर तीन मात्रा में बोलता है और यह मात्रा का परिग्रह है, ऐसा स्पष्टीकरण किया गया है ।[३]

' शिक्षा संग्रह में' भी इसी तथ्य का स्पष्टीकरण किया गया है ।[४]
' पार्षद सूत्र' भी उपर्युक्त प्राणियों की बोली के आधार पर एक मात्रा दो मात्रा और तीन मात्राओं का निर्धारण करता है ।[५] ऋग्वेदीय प्रातिशाख्य में भी इन मात्राओं का निर्धारण क्रमशः नीलकण्ठ कौआ और मोर की ध्वनि से किया गया है ।[६]

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि नीलकण्ठ की बोली

- -

१- या०शि० श्लोक-१५
२- ऋ०शि० (पा०शि०) श्लोक-४६
३- मा०शि० श्लोक-३
४- शि०सं० श्लोक-६ पृ० ४६२
५- पा०सू० ३।१।४
६- ऋ०प्रा० १३।५० पृ०-७१४

एक मात्रा के बराबर कौआ की बोली दो मात्रा के बराबर मोर की ध्वनि तीन मात्रा के बराबर और नकुल की बोली आधी मात्रा के बराबर होती है। इसके अतिरिक्त 'रंग' की ध्वनि की उपमा व्याघ्र की बोली से दी गयी है, तथा मात्रा, दो निर्धारित की गयी है। इसका उत्पत्ति स्थान हृदय बताकर मुख रहित ध्वनि बतायी है।

' रंगे मुखे व्याघ्ररुतोपमं स्यात् मात्राद्वयं हृज्जनितस्वत्वनास्यम्।[1]

आरण्य शिक्षा में रंग की नासिक्य ध्वनि बतायी गयी है, जो अन्त में आती है। प्लुत (के साथ में) रंग की ध्वनि पांच मात्रा की दीर्घ रंग की चार मात्रा की होती है, ऐसा मत तैत्तिरीय शाखा वालों का है।

' पंचरंगप्लुता दीर्घाश्चत्वारस्तैत्तिरीयके।
तेषामन्ते च नासिक्यं रंगसंज्ञमितीर्यते ।।[2]

माण्डूकी शिक्षानुसार ' रंग ' ध्वनि नाक से उच्चरित होती है, मृदु होती है तथा कांसे के समान होती है। दोमात्रा की ध्वनि का उदाहरण ' वृष्टिमाँ '। दिया गया है।

' नासादुत्पद्यते रंगः कांस्येन समनिस्वनः।
मृदुश्चैव द्विमात्रं स्याद् वृष्टिनाँ इति दर्शनम् ।।[3]

' नारदीया शिक्षा ' में ' रंग ' का उच्चारण हृदय से बताया गया है। कांसे (धातु) के समान स्वर बताया है तथा ध्वनि मृदु बतायी है एवं दो मात्रा का उदाहरण ' दधन्वाँ ' बताया है। जिस प्रकार सौराष्ट्र

- -

१- पारि० शि०
२- आरण्य शिक्षा
३- मा०शि० १०।१०

- तालाध्याय -

की नारी ' अरों ' का उच्चारण करती हैं, उसी प्रकार ' रंग ' का प्रयोग करना चाहिये तथा उपर्युक्त मत को नारद का मत बताया गया है ।

हृदयादुत्तिष्ठते रंगः कांस्येन समनिःस्वरः ।
मृदुश्चैव द्विमात्राश्च दन्त्वों इति दर्शनम् ।।

यथा सौराष्ट्रिका नारी अरों इत्यभिभाषते ।
एवं रंगः प्रयोक्तव्यो नारदस्य मतं यथा ।। [1]

उपर्युक्त रंग के सन्दर्भ में हृदय और नासिका से उच्चारण बताया गया है तथा इस प्रकार का उच्चारण सौराष्ट्र की नारियाँ करती हैं । इन सब विवरण से यह बात स्पष्ट है कि वर्तमान में दक्षिण का संगीत इसी प्रकार की ध्वनि से युक्त है ।

मात्रा विषयक कालमान के सम्बन्ध में भी वर्तमान दक्षिण भारतीय (कर्णाटक) संगीत के तालपक्ष एवं शिक्षादि के तत्विषयक विवरण में कतिपय साम्य दृष्टिगोचर होता है । उदाहरणार्थ -

हमारे प्रचलित शास्त्रीय तालों में अणुद्रुत , द्रुत लघु, गुरु एवं प्लुत इन पांच मात्राओं का विशेष प्रयोग होता है ।[2]

लघु की मात्रा का निश्चित कालमान अलग-अलग सम्प्रदायों में अलग-अलग प्रकार से दर्शाया जाता है। एक मतानुसार लघुमात्रा का काल उतना ही है जितना एक लघु अक्षर के उच्चारण का काल । इसी प्रकार गुरु को दो लघु तथा प्लुत को तीन लघु के बराबर बताया है, जो शिक्षादि के मत से सादृश रखता है । किन्तु द्रुत और अणुद्रुत के विषय में मतैक्य

- -

१- ना०शि० २।४।८-६
२- भा०ता०शा०वि० पृ०-१६३

नहीं जान पड़ता क्योंकि द्रुत को लघु का आधा और अणुद्रुत लघु का चतुर्थांश आजकल माना जाता है जबकि शिक्षादि में आधी मात्रा के लिये द्रुत की तरह कोई पृथक् संज्ञा नहीं थी और लघु के चतुर्थांश के लिये 'अणु' का व्यवहार किया जाता था और 'अणु' के भी आधे कालमान के लिये 'परमाणु' संज्ञा प्रचलित थी, जिसका विवेचन पूर्व ही किया जा चुका है।

यदि लघु का कालमान दो मात्रा अथवा अधिक माना जाय तो गुरु और प्लुत का मान उसी अनुपात में बढ़ जाता है तथा द्रुत और अणु द्रुत का कालमान भी उसी अनुपात में बढ़ जाता है। कर्नाटक संगीत में तो लघु का विशिष्ट स्थान है, क्योंकि लघु पर ही ताल का स्वरूप अत्यधिक निर्भर है और लघु के कालमान में बदलाव होने से कई दूसरे तालों की रचना हो जाती है। उत्तर भारतीय (हिन्दुस्तानी) संगीत में लघु मात्रा का व्यवहार सामान्य अर्थ में ही होता है तथा उसका कालमान एक मात्रा ही निर्धारित है। कभी-कभी विशेषकर विलम्बित रचनाओं में लघु मात्रा को दो अथवा चार मात्राओं के रूप में प्रयोग किया जाता है, किन्तु उसको लघु की मात्रायें न कहकर ताल की कुल मात्राओं को दुगनी अथवा चौगुनी मात्राओं के द्वारा बताया जाता है। उदाहरणार्थ - 'झूमरा ताल' जो चौदह मात्राओं का है विलम्बित या अतिविलम्बित होने पर अट्ठाइस अथवा छप्पन मात्राओं का कह दिया जाता है, जब कि वह मूलतः चौदह लघु मात्राओं का ही होता है। किन्तु एक लघु मात्रा का कालमान क्रमशः दो अथवा चार मात्राओं के बराबर होता है जिस कारण उसे अट्ठाईस अथवा छप्पन मात्राओं का कह दिया जाता है।

किसी भी मात्रा का कोई निर्धारित कालमान बताना सम्भव नहीं है। विशेषकर भारतीय संगीत परम्परा के सन्दर्भ में क्योंकि मात्रा

का कालमान प्रयोक्ता (Performer) की मनोदशा आदत प्रस्तुत शैली की अपेक्षादि अनेक बातों पर निर्भर करता है। पाश्चात्य संगीत में तो मेट्रोनम आदि यन्त्रों से मात्रायें (Beats) कालमान की दृष्टि से निर्धारित कर ली जाती है, किन्तु भारतीय संगीत में आज भी ताल की मात्राओं की कालमात्रा पूर्णतः अनिर्धारित है, अर्थात् आत्मनिष्ठता (Subjectivity) की प्रधानता हमारे संगीत में आज भी वर्तमान है। शिक्षा ग्रन्थों में भी इस मात्रात्मक मनाश्रितता के संकेत स्पष्ट हैं। उदाहारणार्थ याज्ञवल्क्य शिक्षा में अणु मात्रा को मनस्थित कहा गया है - ' मानसे चाणवं विद्यात् '[1] इसी प्रकार अणु को हृदय में स्थित भी कहा गया है जिससे मात्रा की इकाई अणु की आत्मगतता का स्पष्ट संकेत हो जाता है।

' हृदयस्थमणु विद्यात्कण्ठे विद्याद् द्विराणावम् ।
त्रिराणवन् तुजिह्वाग्रे निस्सृतं मात्रिकं भवेत् ।।[2]

मात्रा का स्वरूप लय के अनुसार ही निर्धारित होता है। प्रायः तीव्र गति वाले संगीत में मात्रा का स्वरूप लघुकाल परक होता है जबकि धीमी चाल वाले संगीत में मात्रा का स्वरूप दीर्घकाल परक होता है। बड़े ख्याल के गायन अथवा सितार पर मसीतखानी गत इत्यादि को सुनने पर न केवल मात्रा का स्पष्ट बोध पृथक् रूप से होता है अपितु मात्रांश (अणु) इत्यादि को भी प्रतिभिज्ञा का विषय बनाया जाता है। इसके विपरीत द्रुत ख्याल तथा रजाखानी गत आदि के प्रस्तुत होने पर प्रत्येक मात्रा को पृथक् रूप से गिन पाना कठिन हो जाता है और ' तराना ' अथवा ' झाला '

- -

१- या० शि० श्लोक-१०
२- लो० शि० (शि० सं०) पृ-४६२

की स्थिति में तो दो अथवा चार मात्रा की इकाई बना कर भी उसकी गणना कर पाना दुष्कर कार्य लगता है , अत: मात्रा और गति (वृत्ति) का सम्बन्ध स्पष्ट है । ऋग्वेद प्रातिशाख्य में मात्रा के अनुसार ही वृत्ति का निर्देश है । -

> ' गुर्वक्षराणां गुरुवृत्ति -- -- -- --
> लघ्वक्षराणां लघुवृत्ति -- -- -- -- ।' [१]

वृत्तियां -

मात्राओं के उपरान्त संगीत की दृष्टि से लय अथवा वृत्तियों पर विचार कर लेना प्रासंगिक है , क्योंकि मात्राओं की चाल (गति) से ही न केवल ताल- छन्द का स्वरूप निखरता है,अपितु उनका प्रभाव भी इसी पर आश्रित है । भावाभिव्यक्ति हो अथवा रस परिपाक सभी कुछ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से लयाश्रित ही है। यहाँ तक कि तालात्मकता का वास्तविक अर्थ यही गत्यात्मकता या वृत्यात्मकता ही है ।

वाणी की तीन वृत्तियों का उल्लेख ऋग्वेदी प्रातिशाख्य में उपलब्ध है । विलम्बित, मध्य तथा द्रुत ।

> ' तिस्त्रो वृत्तीरुपदिशन्ति वाचो
> विलम्बितां मध्यमां च द्रुतांच ।।[२]

वृत्तियों के प्रयोग के सन्दर्भ में नारदीयादि शिक्षाओं में भी तीन ही वृत्तियां बतायी गई हैं । नारदीया शिक्षा में शिष्यों को उपदेश देने के

- -

१- ऋ०प्रा० १८ (३) । ६०-६१
२- ऋग्वेद प्रा० १३।४६

- तालाध्याय -

लिये विलम्बित वृत्ति का प्रयोग उचित बताया है , (यज्ञादि में- स्वाध्यायादि) में प्रयोग करने के लिये मध्यमा वृत्ति बतायी गयी है तथा अभ्यास के लिये द्रुतावृत्ति बतायी है ।

> ' अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम् ।
> शिष्याणामुपदेशार्थे कुर्याद् वृत्तिं विलम्बिताम् ।।[१]

याज्ञवल्क्य शिक्षा में भी अभ्यास के लिये द्रुता प्रयोग के लिये मध्यमा और शिष्यों को उपदेश देने के लिये विलम्बिता वृत्ति का प्रयोग करना चाहिये बताया गया है ।[२] माण्डुकी शिक्षा में तीन वृत्तियां बताकर इन तीनों वृत्तियों में से मध्यमा वृत्ति का प्रयोग अपेक्षाकृत उचित बताया है। क्योंकि दोषों का प्रकाश विलम्बिता वृत्ति में होता है और द्रुता वृत्ति में वर्ण लक्षित नहीं होते अत: द्रुता और विलम्बिता वृत्ति को त्यागकर मनुष्य को मध्यमा वृत्ति ही प्रयोग करना चाहिये ।[३] त्वरित अध्ययन से सहस्त्रों सन्देह ही होते हैं यह तथ्य नारदीया शिक्षा में स्पष्टतया व्यक्त है ।[४] यही श्लोक माण्डुकी शिक्षा में भी उपलब्ध होता है ।[५] पाणिनि शिक्षा में दोषों में ' त्वरित् ' (पाठ) भी बताया गया है ।[६]

' पार्षद सूत्र ' में भी अभ्यास के लिये द्रुता प्रयोग के लिये मध्या और शिष्यों के उपदेश के लिये विलम्बिता वृत्ति बतायी गयी है ।[७] शौनक - प्रातिशाख्य में भी यही बात दर्शायी गयी है ।[८]

१- ना०शि० १।६।२१
२- या०शि० श्लोक ४९।५०
३- मा०शि० श्लोक-१,५ पृ० १
४- ना०शि० २।८।१८
५- मा०शि० १४।३
६- पा०शि० (शि०सं०) श्लोक-३५
७- पार्षद सूत्र अ० ३ पटल १ खण्ड ३
८- शौ०प्रा० पटल १३

- तालाध्याय -

इन वृत्तियों के माध्यम से कर्म विशेष के करने का निर्देश किया गया है। उव्वट ने विलम्बिता वृत्ति में प्रात: सवन, मध्यमा वृत्ति में माध्यन्दिन सवन और द्रुता में सायंकालीन सवन होता है, ऐसा स्पष्ट किया है।[1]
यहाँ यह विचारणीय है कि पाणिनि शिक्षा में प्रात: सवन में मन्द्र स्वर से मध्य सवन में कण्ठ स्थानीय (मध्यस्थानीय मध्यसप्तक) स्वर से तथा तृतीय अर्थात् सायंकालीन सवन तार स्थानीय स्वर से करना चाहिये।[2] बताया है।
आपस्तम्ब परिभाषासूत्र में भी मन्द्र स्वर से प्रात:सवन मध्य से माध्यन्दिन सवन और क्रुष्ट (उच्चस्वर) से तृतीय सवन करना चाहिये बताया है।[3] सामिक स्वर में क्रुष्ट सर्वोच्च स्वर (प) माना गया है। नारदीया शिक्षा में भी उर, कण्ठ, शिर तीन स्थान बताकर उन्हें 'सवन' बताया है।[4] 'सवन' क्रिया पूर्व में स्पष्ट की जा चुकी है। प्रश्न ये है कि 'प्रात: सवन' में मन्द्रस्वर और विलम्बिता वृत्ति। माध्यन्दिन सवन में कण्ठस्थानीय स्वर और मध्यमा वृत्ति तथा तारस्थानीय स्वर और द्रुतावृत्ति ही क्यों बतायी गयी है? इनका क्रम द्रुता वृत्ति से मन्द्र स्वर का क्यों नहीं जोड़ा गया? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि सम्भवत: तारस्वर की प्रकृति चंचल और मन्द्र स्वर की प्रकृति गम्भीर होती है। तथा मध्य स्वर की गम्भीर तथा चंचल दोनों की मिश्रित प्रकृति है। 'ओऽम्' मन्द्र स्थानीय स्वरों से बोलने पर अलग प्रभाव देगा और तार स्थानीय स्वरों से बोलने पर अलग प्रभाव देगा। द्रुता वृत्ति (चंचल प्रकृति) और तार स्वर एक दूसरे के अनुकूल है तथा मन्द्र स्वर विलम्बिता वृत्ति (गम्भीर प्रकृति) परस्पर अनुकूल हैं। इसलिये विलम्बिता वृत्ति प्रात:कालीन सवन से, जो मन्द्र स्वरों से किया जाता

१- उ०भा० ऋ०प्रा० १३।४७
२- पा०शि० (शि०सं०)
३- आ०प०सू०
४- ना०शि० १।१।७

है, जोड़ी गयी है, और द्रुता वृत्ति सांयकालीन सवन से, जो तारस्थानीय स्वर से किया जाता है। इसी प्रकार मध्यमावृत्ति को माध्यन्दिन सवन से, जो कण्ठस्थानीय स्वरों से किया जाता है, बताया गया है। शुक्लयजुर्वेद - प्रातिशाख्य में भी सवन के क्रम से तीन स्थान उर, कण्ठ, भ्रूमध्य बताया गया है।[1] किन्तु ये तीन वृत्तियाँ किस आधार पर द्रुता मध्या विलम्बिता है ? इसके उत्तर में ऋग्वेदीय प्रातिशाख्यकार ने प्रतिवृत्ति में मात्राधिक्य बताया है -

" मात्राविशेष: प्रतिवृत्त्युपैति " ।[2]

ऋक्तन्त्र में द्रुतवृत्ति में (त्रिकला) मात्रा बतायी है । मध्यमावृत्ति में चतुष्कला मात्रा बतायी है । और विलम्बित में पांच कला की मात्रा बतायी है ।

" द्रुतायां मात्रा।। चतुष्कला मध्यमायाम् ।।
पंचकला विलम्बितायाम् ।। "[3]

भाष्य में द्रुत वृत्ति की मात्रा तीन कलाओं वाली बतायी गयी है ।[4]

छन्दोग्य व्याकरण में द्रुता गति में मात्रा त्रिकला, मध्यमा गति चतुष्कला और विलम्बिता गति में मात्रा में मात्रा पंचकला बतायी गयी है -

" गतिश्च त्रिकला । द्रुतायां मात्रा। चतुष्कला मध्यमायां ।
पंचकला विलंबितायां " ।।[5]

उपर्युक्तानुसार मात्रा का मान गतिभेदानुसार निर्धारित किया गया है । अर्थात् वृत्तियों के अनुसार मात्राकाल बढ़ता है, मात्राओं की संख्या नहीं ।[6]

- -

१- शु०य०प्रा० १।३० , १।१०
२- ऋ०प्रा० १३।४८ पृ० -७१३
३- ऋ०त० ४।१-२-३
४- वही ४।१ पृ० १०
५- छन्दो व्याकरण पृ० ३
६- (कला से तात्पर्य मात्रा निहित कालांश है)

- तालाध्याय -

उव्वट के अनुसार द्रुतावृत्ति में जो वर्ण होते हैं मध्यमा वृत्ति में त्रिभागाधिक होते हैं । तथा मध्यमा वृत्ति में जो वर्ण होते हैं वे विलम्बिता में - त्रिभागाधिक होते हैं । कुछ आचार्यानुसार चार भाग अधिक होते हैं ।[१]

माण्डुकी शिक्षा में तीन वृत्तियां बताकर मध्यमा को एकान्तर तथा विलम्बित को द्व्यन्तर बताया है ।[२] इसके अनुसार इनकी मात्रा क्रमशः १:२:४ होगी। संगीत रत्नाकर में -

" द्विगुणाद्विगुणौ ज्ञेयौ तस्मान्मध्यविलम्बितौ "[३]

द्वारा द्रुत से द्विगुण मध्य, मध्य से द्विगुण विलम्बित लय बतायी है ।

संगीत ग्रन्थों में भी तीन वृत्तियां बतायी गयी हैं । चित्रा, दक्षिणा,वृत्ति[४] 'चित्रा' वृत्ति में द्रुतलय 'वृत्ति' वृत्ति में मध्यलय और दक्षिणा वृत्ति में विलम्बित लय बतायी गयी है ।[५] दत्तिल ने भी भरत की भांति तीन ही वृत्तियां बतायी हैं ।[६] संगीत के अन्यान्य ग्रन्थों में भी द्रुत ,मध्य, विलम्बित तीन ही लय बतायी गयी हैं ।

संगीत रत्नाकर में लय की परिभाषा बताते हुये द्रुत,मध्य,विलम्बित तीन प्रकार की लय बतायी गयी है ।

" क्रियानन्तर विश्रान्तिर्लयः स त्रिविधो मतः ।
द्रुतो मध्यो विलम्बश्च द्रुतः शीघ्रतमो मतः "।।[७]

भरत ने काल और कला के दृष्टि कोण से तीन लय बतायी है -

- -

१- द्र०उ०भा० कृ०प्रा० १३।४८ पृ० ७१३
२- मा०शि० १।१-२ पृ०१
३- सं०र० III ताल०
४- ना०शा० २६।७१ पृ० १००
५- वही
६- द० श्लोक ४३
७- वही (सं०रत्नाकर) ।।। ताल०

- तालाध्याय -

" ततः कलाकालकृतो लय इत्यभिसंज्ञितः ।
त्रयो लयास्तु विज्ञेया द्रुतमध्यविलम्बिता ।। " [१]

छन्द अक्षर तथा पद गत तीन लयों को बताया है -

" त्रयो लयास्तु विज्ञेया द्रुतमध्यविलम्बिताः ।
छन्दोक्षरपादानां हि समत्वं यत् प्रकीर्तितम् ।। " [२]

कला और काल की दृष्टि से लय का नाम स्त्रोतोगता गोपुच्छा और समा बताया गया है -

" कलाक (का) लान्तरकृतः स लयो मान (नाम) संज्ञितः ।
श्रो (स्त्रो) तोगता च गोपुच्चा (च्छा) समा चात्र विधाय च ।।[३]

वृत्तियों से सम्बन्धित देवता -

माण्डूकी शिक्षा में इन्द्र की मध्यमा वृत्ति प्रजापति को विलम्बिता-वृत्ति बतायी गयी है । अग्नि और मरुत की वृत्ति द्रुत है, जिसकी सब शास्त्रों में निन्दा की गयी है ।

" ऐन्द्री तु मध्यमा वृत्तिः प्राजापत्या विलम्बिता ।
अग्निमारुतयोर्वृत्तिः सर्वशास्त्रेषु निन्दिता ।। [४]

याज्ञवल्क्य शिक्षा में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है ।[५] याज्ञवल्क्य और माण्डूकी शिक्षा के विवेचन से स्पष्ट है कि द्रुता वृत्ति त्याज्य है क्योंकि सभी शास्त्रों में इसकी निन्दा की गयी है । क्योंकि इस लय में वर्णोच्चारण अथवा स्वरों का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। शिक्षादि में वृत्ति अधुना प्रचलित ` लय ` के सादृश्य है।भरत ने लय को भिन्न अर्थ में बताया है ।

१- ना०शा० ३१।५
२- वही ३१।३७०
३- वही ३१।३७१
४- मा०शि० १।४ प०१
५- या०शि० श्लोक ५५

- तालाध्याय -

विवृत्ति -

वृत्तियों के अतिरिक्त विवृत्तियों की चर्चा भी शिक्षादि ग्रन्थों में उपलब्ध है । ऋग्वेद प्रातिशाख्य में स्वरान्तर को 'विवृत्ति' बताया गया है ।

' स्वरान्तरं तु विवृत्तिः ' ।[1]

याज्ञवल्क्य शिक्षा में दो स्वरों के मध्य जहां संधि न हो उसे विवृत्ति कहा गया है ।

' द्वयोस्तु स्वरयोर्मध्ये सन्धिर्यत्र न दृश्यते ।
विवृत्तिस्तत्र विज्ञेया 'य ईशेति निदर्शनम् ।।[2]

इसी तथ्य का स्पष्टीकरण स्वर भक्ति लक्षण परिशिष्ट शिक्षा में भी किया गया है ।[3]

नारदीया शिक्षा में विवृत्तियों का स्वरूप बताते हुये - जिस प्रकार बादल में मणिरूपी सूत्र की तरह बिजली (चमकती) दिखाई पड़ती है । इसी तरह का व्यवधान विवृत्तियों द्वारा होता है , ऐसा कहा गया है ।

' अभ्रमध्ये यथा विद्युत् दृश्यते मणिसूत्रवत् ।
एषच्छेदो विवृत्तीनां यथा वालेषु कर्तरिः दीपकः ' ।[4]

माण्डुकी शिक्षा में भी विवृत्तियों का स्वरूप ऐसा ही है ।[5]

याज्ञवल्क्य शिक्षा में भी इसी तथ्य का निरूपण उपलब्ध है ।[6]

१- ऋ०प्रा० २।३
२- या०शि० श्लोक ६४ (शि०सं०)
३- स्व०भ०ल०प०शि० (शि०सं०) ३१
४- ना०शि० १।६।११
५- मा०शि० श्लोक ६
६- या०शि० श्लोक ६३

- तालाध्याय -

इन विवृत्तियों के चार प्रकार बताये गये हैं।

"एषा चतुर्धा विज्ञेया प्रथमा तु पिपीलिका ।।
परा पाकवती चैव तथा वत्सानुसारिणी ।
वत्सानुसृजिता चैव चतस्त्रास्ता विवृत्तय: ।" [1]

याज्ञवल्क्य शिक्षा में भी इन्हीं चार विवृत्तियों का उल्लेख प्राप्य है।

" पिपीलिका पाकवती यथा वत्सानुसारिणी ।
वत्सानुसृजिता चैव चतस्त्रस्ता विवृत्तय: ।।" [2]

माण्डूकी शिक्षा में भी चार विवृत्तियां निर्देशित की गयी हैं।[3]

नारदीया शिक्षा में भी - चार विवृत्तियां बतायी गयी हैं।

" विवृत्तयश्चतस्त्रो वै विज्ञेया इति मे मतम् ।
अक्षराणां नियोगेन तासां नामानि मे श्रृणु ।।" [4]

विवृत्तियों का शिक्षादि में जहां कहीं भी उल्लेख प्राप्त है, वहां चार ही विवृत्तियां उपलब्ध हैं।

नारदीया शिक्षा में पूर्वपद में हृस्व स्वर एवं उत्तर पद में दीर्घ स्वर हो तो वत्सानुसृता ", जिसमें पूर्वपद दीर्घ और उत्तर पद हृस्व स्वर वाला हो वह वत्सानुसारिणी है। पाकवती उसे कहते हैं जिसमें उभय पद के स्वर हृस्व होते हैं। तथा जिसमें उभय पद के स्वर दीर्घ होते हैं उसे पिपीलिका विवृत्ति बतायी गयी है। इसी बात का निरूपण उदाहरण देते हुए स्वरभक्ति लक्षण परिशिष्ट शिक्षा में भी किया गया है।[5] माण्डूकी शिक्षा में भी ऐसा ही है।[6]

१- स्व०भ०ल०प०शि० श्लोक ३२-३३
२- या०शि० श्लोक, ६५
३- मा०शि० ६।१-२
४- ना०शि० २।४-१
५- स्व०भ०ल०प०शि०
६- मा०शि० ६।३-४-५

इन विवृत्तियों का नाम स्वरूपानुकूल ही प्रतीत होता है। वत्स का अनुसरण करने वाली गाय, अर्थात् पूर्व में वत्स छोटा है और उपर में गाय बड़ी है, और वत्सानुसृता का क्रम ह्रस्व-दीर्घ ही बताया गया है। वत्सानुसारिणी अर्थात् जो वत्स (बछड़े) द्वारा अनुसरित की जा रही हो, अर्थात् गाय आगे और बछड़ा पीछे हो । इसमें गाय बड़ी, आगे, बछड़ा छोटा पीछे है । इस विवृत्ति में स्वरों का क्रम भी दीर्घ-ह्रस्व बताया गया है, जो स्वरूपानुकूल ही है। पिपीलिका का शरीर उभयत्र एक सा होता है । इसलिये इसे उभयत्र दीर्घा विवृत्ति बताया गया है ।

ये विवृत्तियाँ संगीत की ' यति ' से साम्य रखती प्रतीत होती हैं । संगीत रत्नाकरकार ने लय प्रवृत्ति के नियम को यति कहा है । समा स्त्रोतोगता तथा गोपुच्छा तीन यतियाँ बतायी हैं ।

' लयप्रवृत्तिनियमो यतिरित्यभिधीयते ।
समा स्त्रोतोगता चान्या गोपुच्छा त्रिधेति सा ।। १

समा की लय आदि , मध्य, अन्त में एक सी बतायी गयी है । (जल की धारा की भाँति) विलम्बित मध्य द्रुतक्रम स्त्रोतागता का है । (गाय की पूछ की तरह) द्रुत मध्य विलम्बित गोपुच्छा यति है ।[2]

ऋचाओं के पाठ या गान में भी एक गति है । किन्तु पिपीलिका विवृत्तियों का व्यवधान सम्भवत: उनमें गतिया लय भेद उत्पन्न करता है । इन्हीं गति या लयभेदों के कारण इनके वत्सानुसृजितादि नाम

- -

१- संगीत रत्नाकर अ०स० ताल० पृ०२६
२- वही

दिये गये हैं । इसी भाँति लयप्रवृत्ति की भिन्नता के कारण ही स्त्रोतो-गतादि तत् तत् पदार्थों के सादृश्यानुकूल नाम रक्खे गये हैं ।

शिक्षादि में वर्णित विवृत्तियां भी अक्षरों के हृस्व दीर्घादि के पूर्वापर स्थितिपरक नियमों को बताती हैं, जो वेद पाठादि में विशेष लय को प्रवृत्त करती हैं, उस विशिष्ट लय भेदानुसार ही विवृत्तियों के - पिपीलिकादि नामकरण हुये हैं । यही कार्य संगीत में यतियों का है ।

इन विवृत्तियों का काल क्या है ? इसके उत्तर में नारदीया शिक्षा के निम्न वचन दृष्टव्य हैं ।

" चतसृणां विवृत्तिनामन्तरं मात्रिकं भवेत् ।
अर्द्धमात्रिकमन्येषामन्येषामणुमात्रिकम् ।।" १

ऋग्वेद प्रातिशाख्य में विवृत्तियों का काल विकल्प से स्वर भक्ति के काल वाली बताया गया है । " स्वरभक्ति " का काल (ऋ०प्रा०/।३३ में) दीर्घ की अर्द्ध मात्रा तथा अन्य की (१।३५ ऋ०प्रा०) आधी से कम मात्रा बतायी गयी है ।

सा वा स्वरभक्तिकाला ।। २

उव्वट ने भाष्य में स्वरभक्ति कालवाली या अधिक कालवाली भी 'विवृत्ति' बताया है । विवृत्ति के विभाग तीन प्रकार के हैं एक तरफ दीर्घ की मात्रा आधी, दोनों ओर हृस्व की पादमात्रा (चौथाई) तथा दोनों ओर दीर्घ की पाद से भी कम मात्रा होती है । ३

- -

१- ना०शि० २।४।३
२- ऋ०प्रा० २।४
३- उ०भा०ऋ०प्रा० २।४ पृ० १२६

- तालाध्याय -

उव्वट के मतानुसार आधी चौथाई चौथाई से भी कम मात्राओं के अतिरिक्त अधिककाल वाली भी विवृत्ति हो सकती है । अधिक से अधिक कितने कालवाली विवृत्ति हो , इसका निर्देश नहीं किया गया है ।

शिक्षादि में जो वृत्तियां है उन्हें , संगीत ग्रन्थों में यथावत् स्वीकार किया गया है । अन्तर मात्र यह है कि शिक्षादि की वृत्तियां वर्ण अथवा छन्दपरक हैं और संगीत की वृत्तियां लय अथवा ताल परक हैं जैसा कि पूर्व में ही स्पष्ट किया जा चुका है कि छन्द तथा ताल के मध्यम कोई तात्त्विक भेद नहीं है ।

अतः वृत्तियों की दोनों ही दृष्टियों से समरूपता निर्विवाद जान पड़ती है।

उपर्युक्त विवृत्तियों के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि उन्हें ही यतियोंके रूप में संगीत शास्त्रियों ने ग्रहण किया तथा न केवल परिभाषा की दृष्टि से अपितु प्रयोग की दृष्टि से भी दोनों का एक ही कार्य एवं महत्त्व दर्शाया गया है । विवृत्ति जहां दीर्घ एवं ह्रस्व की नियन्त्रणकर्ता प्रतीत होती है वहीं यति भी विलम्बित द्रुतादि की नियामक जान पड़ती है। यदि विलम्बित को दीर्घ तथा द्रुत को ह्रस्व के साथ सम भाव करके देखा जाय तो विवृत्ति और यति का सादृश्य सहज ही स्पष्ट हो जाता है । वैसे भी विलम्बित में दीर्घता तथा द्रुत में ह्रस्वता का समावेश होता ही है । जोकि अनुभव सिद्ध है । अतः यदि उपर्युक्त चार विवृत्तियों तथा तीन यतियों के संख्यात्मक स्वरूप को छोड़कर व्यावहारिक दृष्टि से उनकी प्रयोजनपरकता को देखा जाय, तो उनके वैभिन्य का सन्देह समाप्त हो जाता है । निष्कर्ष यह

है कि संगीत की दृष्टि से उसका कालात्मक पक्ष अत्यन्त महत्त्व का है जिसकी इकाई 'मात्रा' कही जा सकती है। जो यद्यपि प्रयोक्ता सापेक्ष है फिर भी ताल तथा छन्द की निर्धारिका है । और उसका आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ उभयदृष्टि से व्यवहार एवं नियमन किया जाता रहा है । जैसा कि इस अध्याय के आरम्भ में स्पष्ट हो चुका है ।

मात्रा निर्धारण के बाद उसका समष्टि रूप ताल आता है , जो मात्राओं का क्रमिक समूह अथवा व्यवस्था है, और छन्द की भाँति ही ढँकने वाला है अथवा बाँधने वाला है , उन स्वरावलियों को, जो जन रंजन की कारक हैं ।

वृत्तियाँ और विवृत्तियाँ (यतियाँ) ताल और लय की नियामक हैं तथा उनका विधान संगीत की रसात्मकता को बढ़ाने के साथ ही साथ सामाजिकों (श्रोता) की चित्त वृत्तियों के निरोध हेतु किया गया लगता है । क्योंकि निबद्ध स्वरावलियों द्वारा ही जनमानस अधिक प्रभावित होता है जिस प्रकार उचित छन्द द्वारा काव्य के शब्दाधिक प्रभावोत्पादक हो जाते हैं उसी प्रकार उचित ताल-लय संगीत को भावोत्पादक एवं मर्मस्पर्शी बना देता है । इस सत्य का साक्षात्कार हमारे पूर्वजों को था, जो उनके उद्धरित संकेतों से उजागर होता है । विलम्बित द्रुत तथा मध्य वृत्तियों द्वारा जो विशेषतायें परिलक्षित हैं, वे आज भी संगीत जगत में मान्य हैं तथा द्रुत इत्यादि के जो दोष शिक्षादि ग्रन्थों में वर्णित हैं उनको भी स्वीकृत उसी रूप में वर्तमान संगीतज्ञ करते हैं । जिस प्रकार शिक्षा एवं प्रातिशाख्यों में कुछ छन्द प्रमुख रूप से स्वीकृत हैं । तद्नुसार संगीत में भी कुछ ताल प्रमुख रूप से प्रतिष्ठित हुये हैं ।

- तालाध्याय -

मुख्यत: नाट्यशास्त्र में पांच वाले चच्चत्पुट , चाचपुट, षट्-पितापुत्रक सम्पक्वेष्टाक और उद्घट्ट बतायी गयी है । [१]

इसी भांति ऋग्वेदीय प्रातिशाख्य में पांच छन्द मा , प्रमा, प्रतिमा, उपमा संमा बताये गये हैं, जो चार अक्षरों से आरम्भ होकर चार-चार अक्षरों से बढ़ते हैं।

" मा प्रमा प्रतिमोपमा संमा च चतुरक्षरात् ।
चतुरुत्तरमुथन्ति पंच छन्दांसि तानि ह ।।" २

अर्थात् 'मा' की अक्षर संख्या चार प्रमा की ८ प्रतिमा की १२ उपमा की १६ और संमा की २० है । अत: शिक्षादि ग्रन्थों में संगीत के पद तथा स्वर निकायों की भांति क्रमरूप से ताल-पक्ष की उपस्थिति का पर्याप्त प्रमाण मिल जाता है जो उनमें निहित संगीत तत्त्व की पुष्टि करता है । अत: संगीत के प्रमुख तीन तत्त्वों स्वर, ताल और पद में से प्रथम दो स्वर और ताल का शिक्षादि ग्रन्थों में प्राप्त विवेचनोपरान्त पद की व्याख्या आगामी अध्याय में की जाती है ।

- -

१- ना०शा० ३१।८-२२
२- ऋ०प्रा० १७ (२)।१६ पृ० ८३६

- पदाध्याय -

'पद' से सामान्यत: पैर चतुर्थ भाग इत्यादि अर्थ समझा जाता है।[1] पाणिनि ने 'पद' को 'सुप्तिङन्तं पदम्'[2] से परिभाषित किया है। अर्थात् जिसमें 'सुप्' और 'तिङ्' प्रत्यय अन्त में लगे हों, वह पद है। साधारणतया हिन्दी में जिस अर्थ में 'शब्द' का व्यवहार किया जाता है संस्कृत में उसी अर्थ में 'पद' का व्यवहार किया जाता है। 'शब्द' का अर्थ मुख्यत: आवाज, ध्वनि करना, शब्द करना इत्यादि है।[3] 'पद' √पद् धातु से निर्मित है, जिसका अर्थ चलना-फिरना है।[4] अर्थात् जब वर्णात्मक ध्वनि 'सुप्' और तिङ्' प्रत्ययों से युक्त होकर वाक्यों में या व्यवहार में चलने योग्य हो जाती है, तो उसे पद कहा जाता है।

वस्तुत: स्वर और पद ध्वनि के ही दो रूप हैं। दूसरे शब्दों में ध्वनि रूपी उपादान कारण पर ही स्वर और पदरूपी कार्यों की सत्ता निर्भर है। ध्वनि का संगीतात्मक रूप स्वर है, तथा वर्णात्मक रूप पद है। अत: स्वभावत: ही स्वर और पद सहगामी हैं, जो ताल (छन्द) द्वारा नियमित होकर संगीत का रूप ग्रहण करते हैं। इसीलिये स्वर ताल और पद के त्रिक को ही संगीत (गान्धर्व) कहा गया है। -

'पदस्थस्वरसंघातस्तालेन सुमितस्तथा ।
प्रयुक्तश्चावधानेन गान्धर्वमभिधीयते ।।'[5]

१- सं०श०कौ० पृ०-६५४
२- अष्टाध्यायी
३- सं०श०कौ० पृ०-११३५
४- वही पृ०-६५४
५- दत्तिलम् श्लोक-३

- पदाध्याय -

अर्थात् पद में स्थित स्वर समूह, जब ताल द्वारा नियमित हो कर प्रयुक्त किया जाता है, तब गान्धर्व कहलाता है। यह तो सर्वविदित ही है कि संगीत की प्राचीन संज्ञा गान्धर्व है। अक्षरों के समूह से पद या शब्द बनते हैं, इनके उच्चारण में जो समय लगता है, उसकी मापक मात्रायें हैं, जो ताल के ही अंग है । इन मात्राओं से ही छन्द बनते हैं। तथा छन्दाश्रित शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं , जिनके द्वारा नवरसों की अभिव्यक्ति होती है । ` गोस्वामी तुलसीदास ने इसे निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया है ।

' वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि ' [१]

भरत ने ' गान्धर्व ' के अन्तर्गत ' स्वर ताल ' के अतिरिक्त ' पद ' को भी सम्मिलित किया है ।

' गान्धर्वं त्रिविधं विद्यात्स्वरतालपदात्मकम् । ' [२]

अर्थात् स्वर, ताल, पद का समवाय रूप गान्धर्व है ।

' नारद ने गान्धर्व के अर्थ में, ' गा ' का अर्थ गानात्मक रूप से लिया है ' ध ' से धातु (स्वररूप) लिया है और ' व ' को वाद्य के अर्थ में बताया है ।

' गेति ज्ञेयं विदुः धेति कारुप्रवादनम् ।
वेति वाद्यस्य संज्ञेन गांधर्वस्य विरोचनमिति ।। ' [३]

अर्थात् ' गा - गान अर्थ में है जिसमें पद होते हैं, स्पष्ट ही है । ' धा ' (धातु - स्वर के) प्रवादन करने वाले को कहा गया है । ' कारु ' = करने

१- रा०च०मा० (बा०का०) श्लोक-१
२- ना०शा० २८।११
३- ना०शि० १।४।१२

वाला अर्थ बताया गया है ।[१] ' व ' को वाद्य की संज्ञा बतायी गयी है । सम्भवत: व का तालवाद्य से तात्पर्य रहा हो । क्योंकि ' ध ' का अर्थ पहले ही प्रवादनकर्ता बताया जा चुका है । जो स्वर वाद्य का वादन ही प्रतीत होता है । ' वा ' का अर्थ आघात करना है ।[२] वेद में ' आघाटि ' जैसे वाद्यों का उल्लेख प्राप्त है । - सम्भवत: आघात करने वाला वाद्य होने से इसे आघाटि कहा गया हो ।

" आघाटिभिरिव धावयन्नरण्यानिर्महीयते " ।[३]

पं० क्षितिमोहन सेन इसे परदों वाला वाद्य बताते हुये घाट का अर्थ पर्दा माना है ।[४] शोभाकर भट्ट ने धकार वकार से वीणा प्रवादन अर्थ बताया है । -

" धकारेण वकारेण वैणिकस्य प्रवादनम् " ५

वकार तालवाद्य वादन अर्थ में हो या स्वरवाद्य वादन अर्थ में हो, दोनों वाद्यों के वादन में एक लय तो होती ही है जो ताल का ही विशिष्ट रूप है । अत: यह कहा जा सकता है कि गान्धर्व, पद के अर्थ में ' ध ' ' व ' स्वर अर्थ में, ताल के अर्थ में, प्रयुक्त हुआ होगा। गान्धर्व में गान पहले है, इससे पद की प्राथमिकता ही ' लक्षित ' होती है । दत्तिल ने भी ' पदस्य-स्वरसंघात ' कहकर पद को ही प्राथमिकता दी है । पद के अभाव में भाव अथवा रसाभिव्यक्ति सामान्य रूप से हो सकती है , विशिष्ट रूप में नहीं ।

- -

१- सं०श०को० - पृ०-३२३
२- वही १०३२
३- ऋ०वे० १०।१४६।२
४- संगीत और संस्कृति पृ०-२८
५- ना०शि० टीका पृ०-२७

- पदाध्याय -

केवल ताल या स्वर वाद्य बज रहे हों तो रसाभिव्यक्ति सम्भव है किन्तु सूक्ष्मभावाभिव्यक्ति, वर्णात्मिका नाद के अभाव में असम्भव है । करुण रस के लिये स्वर बजाये जा सकते हैं, लेकिन करुण रस पति बिछुड़ जाने के कारण है , या शिशु मृत्यु के कारण है ये स्पष्टीकरण वाद्यस्वर नहीं कर सकते। इसका स्पष्टीकरण वर्णात्मिका नाद ही कर सकती है, जो पद का आधार है ।

संगीत को परिभाषा देते हुये शारंगदेव ने गीत को ही प्रमुख स्थान दिया है -

" गीतं वाद्यं नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते " [१]

नृत्य वाद्य का अनुगामी है और वाद्य गीत का अनुगामी है अतः गीत की प्रधानता के कारण ही उसे पहले कहा है ।

" नृत्यं वाद्यानुगं प्रोक्तं वाद्यं गीतानुवर्ति च ।।
अतो गीतं प्रधानत्वादत्रादावभिधीयते । [२]

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी पद अथवा गीत को संगीत त्रिक में सर्वप्रथम स्थान दिया गया है तथा रत्नाकर की भांति ही वाद्य को गीत का और नृत्य को वाद्य का अनुगामी बताया गया है ।[3] जिससे संगीत में पद प्राधान्य प्रमाणित होता है ।

१- सं०र० १ १।२१
२- वही १।२४-२५
३- विष्णुधर्मोत्तर पुराण ३।७ से १२

- पदाध्याय -

पदों के स्वर-लक्षण प्रकार -

उदात्तादि स्वर भेद के अनुसार पद भेदों का उल्लेख शिक्षादि में प्राप्य है । उदाहरण के लिये अन्तोदात्त, आद्युदात्त, उदात्त, अनुदात्त, नीच-स्वरित, मध्य उदात्त स्वरित, द्विउदात्त ये आठ पद भेद बताये हैं ।[१] इसमें तृतीय प्रकार 'उदात्त' से तात्पर्य प्रउदात्त से है[२] जैसा कि टीकाकार ने संकेत किया है। इसी प्रकार स्वरित से तात्पर्य सम्भवत: आदि स्वरित से है । किन्तु 'स्वरशिक्षा' में पदों में उदात्त की स्थिति चार प्रकार से बतायी गयी है -

> 'तच्चतुर्विधं ।। आद्युदात्तं । मध्योदात्तं । अंतोदात्तं ।
> सर्वोदात्तं इति' ।[३]

इसी भाँति स्वरित की भी चार प्रकार से पदों में स्थिति बतायी है ।

> 'विधात्तत्रच्चतुर्विधं । आदि स्वरितं । मध्यस्वरितं ।
> अन्त्य स्वरितं । सर्वस्वरितं इति ।'[४]

अर्थात् पदादि में, पदान्त में, पद के मध्य में तथा सम्पूर्ण पद में स्वरित की स्थिति बतायी है । यही उदात्तस्वर की भी पदों में स्थिति बतायी गयी है ।

उपर्युक्त विवेचन से यही संकेत मिलता है कि पदों में स्वरस्थिति परिवर्तित होने के कारण उनके अर्थ में भी परिवर्तन आता है । यह बात आजकल के

१- ना० शि० २।७।५

२- टीका ना० शि० २।७।५
३- स्वर शिक्षा पृ० १
४- वही

- पदाध्याय -

गीतों के सन्दर्भ में भी सही बैठती है, क्योंकि न केवल स्वर अपितु स्वराघात (Accent) बदलने पर पदार्थ बदल जाता है, जिसे भरत ने 'काकु' द्वारा समझाया है।[1] संगीत द्वारा रस सम्प्रेषण के प्रसंग में पदों एवं पदों में निहित स्वर और स्वराघातों का विशेष ध्यान रखना सम्भवत: इसीलिये आवश्यक कहा गया है, क्योंकि किंचित मात्र भी तत्सम्बन्धी त्रुटि अर्थ का अनर्थ कर सकती है।[2] पद की व्यंजना भी उचित स्वर - सन्निवेश पर भी निर्भर करती है। अधिकांशत: गीतों के अत्याधिक लोकप्रिय होने का कारण शब्द (पद) तथा स्वर का मंजुल समन्वय ही होता है तथा इसके विपरीत होने पर अच्छी से अच्छी धुन भी निष्प्रभावी हो जाती है एवं श्रेष्ठ गीत भी नीरस बन जाता है। अत: पद के अर्थ की बात हो अथवा प्रभाव की, लोकप्रियता की हो या रसाभिव्यक्ति की, शब्द-स्वर सामंजस्य ही प्रमुख है। आचार्य बलवन्तराय भट्ट का बड़ा सटीक कथन इस सन्दर्भ में दृष्टव्य है कि स्वर के सहारे शब्द अव्यक्त को भी व्यक्त कर सकता है।[3]

पदोच्चारणविधि -

पदों का उच्चारण सुव्यवस्थित होना चाहिये, जिससे अर्थ स्पष्ट हो सके। शास्त्रीय संगीत में कुछ लोग पदों का स्पष्ट उच्चारण नहीं करते, जिससे रसाभिव्यक्ति में न्यूनता आती है। सुगम संगीत में पदों का स्पष्ट उच्चारण विशेष महत्त्व रखता है। चाहे, भजन हो गीत हो या गजल हो, इनमें सुस्पष्ट पदोच्चारण के अभाव में भावाभिव्यक्ति

१- ना०शा०
२- ना०रि० १।१।५
३- भावरंग लहरी III पृ०४ से ७

- पदाध्याय -

स्पष्ट नहीं हो पाती है । अतः अच्छे गायक पदों के स्पष्ट उच्चारण में भी विशेष ध्यान देते हैं । पदों का स्पष्ट और प्रभावी उच्चारण हो सके इस निमित्त पदोच्चारण सम्बन्धी कुछ विधियां शिक्षादि ग्रन्थों में उपलब्ध हैं, जिनको प्रस्तुत किया जा रहा है । याज्ञवल्क्य शिक्षानुसार पदों का दीर्घ और अत्यन्त विलम्बित उच्चारण नहीं करना चाहिये । पदों का ग्रह और मोक्ष अश्व की गति के समान शीघ्र करना चाहिये ।

न कुर्वीत पदं दीर्घं न वाऽत्यन्तविलम्बितम् ।
पदस्य ग्रहमोक्षौ च यथा शीघ्रगतिर्हयः ।। [1]

जिस प्रकार हाथी एक पैर के पश्चात् दूसरा पैर उठाकर रखता है, उसी प्रकार पद का आदि और अन्त पृथक् पृथक् दिखलाते हुये पदों का उच्चारण करना चाहिये । [2]

याज्ञवल्क्य शिक्षा में यह भी निर्देश है कि पदोच्चारण मधुर हो परन्तु अव्यक्त न हो, व्यक्त हो, परन्तु पीड़ित न हो तथा वर्ण संकर (एक का दूसरे में मिलना) न हो ।[3] व्याघ्री की उपमा से पदों के प्रयोग को स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि जिस प्रकार व्याघ्री अपने बच्चे को दांतों से दबाकर ले जाती है, कि वह गिरे भी नहीं और दांतों से चोट भी न लगे ।[4] इसी प्रकार वर्णों का उच्चारण करना चाहिये अर्थात् वर्णों को चर्वित करते हुये उच्चारण नहीं करना चाहिये । नारदीया शिक्षा में भी व्याघ्री की उपमा से वर्णोच्चारण की विधि बतायी गयी है । तथा वर्णोच्चारण इस प्रकार करें कि वर्ण अव्यक्त तथा पीड़ित न हो । वर्णों के सम्यक् प्रयोग से प्रयोक्ता ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है । -

---

१- या०शि० श्लोक ४६ पृ० ३३
२- वही श्लोक ८१ पृ० १३६
३- या०शि० श्लोक ८० पृ० १३६
४- वही श्लोक ७९ पृ० १३५

- पदाध्याय -

यथा व्याघ्री हरेत्पुत्रान दंष्ट्राभिनैव पीडयेत ।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान्प्रयोजयेत ।।
एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या नाव्यक्ता न च पीडिताः ।
सम्यग्वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते ।। [1]

यह तथ्य अनुभवसिद्ध है कि अधिक विलम्बित गति में गायन करने से शब्दों का सम्यक अर्थ प्रकाश नहीं हो पाता, क्योंकि प्रथम वर्ण तथा परवर्ती वर्णों के बीच अधिक कालान्तर हो जाने से उनमें (क्रम - (सिक्वेन्स) भंग तो होता ही है, साथ ही अन्तिम वर्ण के उच्चारण होने तक प्रथम वर्ण विस्मृत हो जाता है ।[2] गीत में प्रयुक्त पदावली के पदों के मध्य भी - सामंजस्य और क्रम अपेक्षित है, जिस प्रकार माला में प्रगुम्फित पुष्प पृथकत्व में एकत्व का आभास कराते हैं तदनुसार ही लयरूपी सूत्र द्वारा गीत के शब्दों का विधान होना चाहिये । पदों का उच्चारण स्पष्ट हो , यह तो सर्व-विदित है ही, किन्तु पद पीड़ित न होने का उल्लेख करके शिक्षाकार ने एक महत्त्वपूर्ण संगीतात्मक रहस्य उद्घाटित किया है , जिसका तात्पर्य यह है कि पद के वर्णों को समीपवर्ती स्वरों पर ही बान्धना चाहिये अथवा सम्वादी स्वरों पर । यदि दूरवर्ती स्वरों पर पदवर्ण बान्धे जाते हैं अथवा असम्वादी स्वरों पर तो पद पीड़ित से जान पड़ते हैं ।[3] शिक्षाकार द्वारा इस सम्बन्ध में करण` शब्द का उल्लेख है जिसका तात्पर्य स्वर स्थान से है [4] , किया गया है और स्वरस्थान का संगीत की दृष्टि से अर्थ स्वरसप्तक है । अतः अपीड़ित से तात्पर्य स्वरस्थान के सामंजस्य से ही लगाया जा सकता है ।

पाठ्य से सम्बन्धित कुछ गुण तथा दोष भी शिक्षा ग्रन्थों में

१- ना०शि० २।८।३०-३१
२- न्यायदर्शन में भी शब्दार्थ के लिये सन्निध्य का उल्लेख है -भारतीय दर्शन उ०मि०
३- क०प्रा० ३।३२-३३
४- भा०सं०इ० द्र०पृ० १३३ ` करण ` अर्थात् स्वरस्थान

- पदाध्याय -

वर्णित हैं यथा -

' माधुर्य, अक्षरव्यक्ति, सुस्वर, लयसमत्व, धैर्य ।' [१]

इसी प्रकार शीघ्री अल्पकण्ठ ' यथालिखित ' इत्यादि दोष बताये गये हैं । [२] इसी प्रकार के पाठ्य सम्बन्धी गुणदोष अन्य शिक्षाओं में भी प्राप्य हैं किन्तु संगीत की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण गुण दोषों का विवेचन नारदीया शिक्षा में विशेष रूप से उपलब्ध है । जिसकी चर्चा आगे आयेगी । किन्तु प्रस्तुत पाठ्य सम्बन्धी गुण दोषों का भी महत्त्व संगीत के दृष्टिकोण से कम नहीं माना जा सकता विशेषकर आजकल प्रचलित संगीत की दृष्टि से । क्योंकि संगीत में पद (काव्य) का प्रयोग निरन्तर बढ़ते जाने से , जैसा कि गजल गीत, भजन आदि सुगम संगीत की प्रचलित विधाओं से स्पष्ट है , पदोच्चारण सम्बन्धी सभी गुण दोषों की उचित जानकारी संगीतज्ञ को होना परम आवश्यक है । सुगम संगीत के गायन में शब्दों पर विशेष ध्यान दिया जाता है और शास्त्रीय संगीत में भी शब्दों को गौण मानना अनुचित है । कुछ तथाकथित शास्त्रीय संगीत के गायक शब्द पक्ष को अल्प महत्त्व देते हैं और स्वरपक्ष (Tonal aspect) को प्रमुख मानते हुये उस पर ही अधिक ध्यान देते हैं । किन्तु ऐसा करना नितान्त अशास्त्रीय एवं अव्यवहारिक है । कारण कि आदि काल से ही संगीत के अन्तर्गत पद (शब्द) को स्वर और ताल की भांति ही अनिवार्य अंग के रूप में स्वीकार किया गया है । यथा - ' स्वरताल पदात्मकम् ' भरत ने कहा है । दत्तिल ने भी कहा है - ' पदस्थस्वरसंघात: ' शारंगदेव ने भी, जिन्हें वर्तमान भारतीय संगीत पद्धतियों का मिलन बिन्दु आधार माना जाता है, गीत को

१- या० शि० श्लोक ८३ पृ० १३८
२- या० शि० श्लोक ८२ पृ० १३७

- पदाध्याय -

संगीत का प्रथम महत्त्वपूर्ण तत्व स्वीकार किया जाता है -

गीतं -- -- -- -- --[1]

अत: पद सम्बन्धी समस्त प्रासंगिक विवेचन के संगीतोपयोगी होने से इन्कार नहीं किया जा सकता।

गायन के गुण-

पदों के गुण-दोष के अतिरिक्त गायन के गुण दोषों का भी पृथक रूप से वर्णन शिक्षाकार ने किया है। क्योंकि-

'गुणात् प्रवर्तत गानं दोषं चे (षाच्चे) व निरस्यते।
तस्माद् यत्नेन विज्ञेयौ गुणदोषौ समासत: ।।[2]

अच्छे गायन में दोष नहीं हो तथा गुण की ही प्रवृत्ति हो इसलिये गायन के गुण दोषों का जानना गायक के लिये आवश्यक माना गया है। नारद ने गान के दस गुणों की चर्चा की है।

इनके नाम- रक्त, पूर्ण, अलंकृत, प्रसन्न, व्यक्त, विक्रुष्ट, श्लक्ष्ण, सम, सुकुमार, मधुर है।[3]

रक्त-

'रक्त' वह गुण है, जिसमें वेणु वीणा तथा मानवकण्ठ की ध्वनि का अभेद (एकीकरण) हो जाय। अर्थात् यदि वाद्य में षड्ज की ध्वनि है तो मानव कण्ठ भी षड्ज की ध्वनि में होना चाहिये श्रुति भर भी ऊपर या नीचे न हो। तभी 'रक्त' नामक गुण की प्रवृत्ति गान मे होगी। अन्य शिक्षादि ग्रन्थों में 'रक्त' संज्ञा नकारान्त अकार के लिये प्रयुक्त की गयी है जो - स्वर से अनुसृत होता है। शैशरीय शिक्षानुसार -

---

१- सं०र० १ १।२१
२- ना०शा० ३३।१ पृ०३६३
३- ना०शि० १।३ १ से १० तक

नकारान्त ध्वनि को रंग संज्ञा भी बतायी गयी है ।

" तेषामन्त्येषु नासिक्यं रंगसंज्ञमितीयते ।। " [१]

सम्भवत: इसी रंग से राग शब्द निकला होगा जो कालान्तर में संगीतज्ञों द्वारा विशिष्ट रूप में प्रयुक्त हुआ । ऋग्वेद प्रातिशाख्य के निम्नलिखित वक्तव्य से भी संकेत मिलता है कि अनुनासिक (वर्णों) के साथ समवाय - (सम्बन्ध) होने पर स्वरों को राग कर दिया जाता है ।[२] उव्वट के भाष्य से भी यही संकेत मिलता है ।

" रक्तै: समवाये स्वराणां राग: क्रियते ।[३]

पूर्ण -

पूर्ण से तात्पर्य है कि स्वर-श्रुति के साथ-साथ छन्द पाद व अक्षरों के संयोग से स्पष्ट उच्चारण हो ।

अलंकृत -

अलंकृत वह गुण है, जिसमें उर, कण्ठ तथा शिरस्थानों का सम्यक् प्रयोग किया गया हो ।

प्रसन्न -

तोतलापन इत्यादि कण्ठ दोष से रहित, और शंका रहित गायन ' प्रसन्न ' गुण युक्त होता है ।

१- ना०शि० २।४।५ तथा मा०शि० १०,७
२- ऋ०प्रा० १४।५६
३- उ०भा० वही

- पदाध्याय -

व्यक्त -

'व्यक्त' नामक गुण में पदों का सुस्पष्ट (Distinct) तथा शुद्ध उच्चारण होता है । गीतार्थ को सही प्रकार से समझने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि तद्धातु , पद, पदार्थ, प्रकृति ,विकार, आगम, लोप, कृत, तद्धित समास, धातु, निपात, उपसर्ग , स्वर,लिंग,वृत्ति,वार्तिक, विभक्तयर्थ,वचनों इत्यादि का सम्यक् ज्ञान हो । यद्यपि यह गुण व्याकरण अथवा भाषा शास्त्र से सम्बद्ध लगता है किन्तु गायक के लिये भी इनको हृदयंगम करना उतना ही आवश्यक है जितना कि भाषा शास्त्री को । यह गुण संगीत के अन्तर्गत शब्द तथा स्वर दोनों के तुल्य महत्त्व का द्योतक है । इससे अभिप्राय यह है कि गान के समय गीत के शब्दों की तोड़-मरोड़ तथा विकृत उच्चारण न हो । आजकल संगीत में गान की सुविधा के लिये अथवा अज्ञानवश शब्दों की शुद्धतादि का ध्यान नहीं रखा जाता, जिससे अर्थ-हानि होने की सम्भावना बराबर बनी रहती है। सफल तथा लोकप्रिय गायक बनने के लिये यह गुण विशेष महत्त्व का है । लता मंगेशकर जैसी विश्वविख्यात गायिकाओं की सफलता का रहस्य इसी गुण में निहित है ।[१]

विकृष्ट -

उच्चस्वरों से (तारसप्तक) गाने पर भी जब पदादि र व्यक्त रहें तो विकृष्ट गुण होता है । पण्डित श्रोताओं की दृष्टि में यह गुण संगीत में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है ।[२]

तारस्वरों में सरलता के साथ गायन कर लेना विस्तृत स्वर पहुंच (Range)

१- संगीत मासिक ' मार्च १९६६ पृ० १५

२- भा०सं०इ० पृ० ११५
द्र०या०शि० २,३०-३१ तथा मा०शि० १६-१३

- पदाध्याय -

का परिचायक तो है ही साथ ही यह कण्ठ शक्ति का भी प्रतीक है इस गुण से युक्त संगीतज्ञ प्राय: कम ही उपलब्ध होते हैं किन्तु जो होते हैं, वे अत्याधिक प्रभावकारी रहते हैं । वर्तमान काल में श्रीमती परवीन सुल्ताना तथा निर्मला देवी को इसी श्रेणी में गिना जा सकता है ।

श्लक्ष्ण -

' श्लक्ष्ण ' वह गुण है जिसमें ताल की लय, आदि से अन्त तक समान रहती है अर्थात् लय में कोई न्यूनता या आधिक्य नहीं आता। संगीतज्ञों की भाषा में जिसे आजकल ताल का पक्का होना कहते हैं वही ' श्लक्ष्ण ' गुण है । ताल का पक्का होना स्वर से भी अधिक महत्त्व का है , क्योंकि स्वर यदि कुछ स्खलित हो जाय तो सहनीय है तथा उसे सम्हाला भी जा सकता है एवं वाद्यों से भी उसका गोपन एक हद तक सम्भव है । किन्तु लय का भंग हो जाना न केवल असहनीय है बल्कि उसे सम्हालना और छुपाना भी अत्यधिक दुष्कर कार्य है ।

सम -

परांजपेजी के अनुसार ' सम ' गुण से तात्पर्य मुख्यत: लय की समरसता से है ।[1] किन्तु उनका यह मत स्वीकार नहीं कियाजा सकता । वस्तुत: सम गुण से शिक्षाकार का अभिप्राय स्वर और लय दोनों की समरसता से जान पड़ता है । नारदीया शिक्षा में स्पष्ट निर्देश है कि सामिक स्वरों को आद्योपान्त विहित स्वरूप से गाना चाहिये । स्वरों को बढ़ाना या कम करना या कम्पित करना ' सम ' गुण के विपरीत है ।

---

1 द्र० भा० सं० इ० पृ० 116

- पदाध्याय -

' नात्याहन्न्यान्न निर्हन्यान्न प्रगायेन्न कम्पयेत् ।
समं सामानि गायेत व्योम्नि श्येनगतिर्यथा । '[1]

सुकुमार -

सुकुमार वह गुण है जिसमें स्वरों का उच्चारण आवश्यकतानुसार मृदु होता है । पद,वर्ण, स्वरों का मृदु तथा स्पष्ट उच्चारण होना इसमें अपेक्षित है । सरल पदों का प्रयोग त्रिसप्तक स्वर संचरण के साथ करने पर यह गुण समझा जा सकता है । इसमें पद और स्वर दोनों का सुगम सामंजस्य अपेक्षित है ।

मधुर -

स्वाभाविक रूप से जब पदाक्षर मधुर व ललित हों तो मधुर गुण होता है । शिक्षा के अनुसार मधुर की इच्छा स्त्रियां विशेष रूप से करती हैं ।

' स्त्रियो मधुरमिच्छन्ति '[2]

कण्ठ की दृष्टि से विचार करने पर भी मधुर गुण स्त्रियों से अपेक्षाकृत अधिक सम्बद्ध जान पड़ता है, कारण कि एक तो स्त्री कण्ठ पुरुष कण्ठ की तुलना में स्वभावत: अधिक मधुर होता है और फिर महिलाओं का नैसर्गिक कोमलत्व उनके संगीत प्रयोग को अधिक मधुरता प्रदान करता है ।

१- ना०शि० १।६।१५
२- ना०शि० १।३।१३

महर्षि भरत ने भी इसीलिये महिलाओं को गायन और पुरुषों को वादन के लिये अधिक उपयोगी माना है ।[1] उपर्युक्त नारदीया शिक्षा के दस गुणों की भांति ही नाट्यशास्त्र में भी तत्सम्बन्धी गुणों का निर्देश किया गया है ।

> ' पूर्णस्वरं चाऽथ विचत्रवर्णं
> त्रिस्थानशोभि त्रिलयं त्रिमार्गम् ।
> रक्तं समं श्लक्ष्णालंकृत च
> सुखं प्रशस्तं मधुरं च गानम् ।। [2]

नारद तथा भरत के पांच गुण यथा -
रक्त, सम, श्लक्ष्ण, अलंकृत, मधुर समान हैं । जबकि शेष गुण पृथक् हैं । उपर्युक्त गुण साम्य नाम का ही नहीं अपितु व्याख्या की दृष्टि से भी कुछ हद तक है । उदाहरणार्थ - मधुर तथा रक्त गुणों की व्याख्या प्रकारान्तर से दोनों ने लगभग एक सी की है , किन्तु भरत और नारद के मतों में गुण सम्बन्धी वैभिन्य भी पर्याप्त रूप से देखा जा सकता है ।

संगीत रत्नाकर में भी गायन के गुणादि की चर्चा है और तालज्ञ, युक्तलय, सर्वदोषविवर्जित क्रिया पर इत्यादि गायन के गुण बताये हैं ।[3] यद्यपि इन गुणों का शिक्षादि में वर्णित गुणों से नामात्मक साम्य नहीं है किन्तु यदि दोनों में वर्णित गुणों की व्याख्या की तुलनात्मक रीति से देखा जाय तो संगीत रत्नाकर पर शिक्षादि ग्रन्थों का प्रभाव स्पष्टत: देखा जा सकता है । उदाहरण के लिये रत्नाकर में युक्तलय[4] कहा गया है जबकि शिक्षाकार ने ' लयसमर्थ कहा है '[5] इसी प्रकार -

- -

१- ना०शा० ३३।५
२- ना०शा० ३२।४३५
३- सं०र० ।। ३।१३ से १७ तक
४- सं०र० ।। ३।१७
५- या०शि० ३३।शि०सं०

- पदाध्याय -

नारदी शिक्षा में 'सम' के अन्तर्गत ताल की समरूपता बतायी है[१] और शारंगदेव ने तालज्ञ कहा है ।[२] इसी प्रकार अन्य गुणों की व्याख्या में भी नारद इत्यादि के मत की समानता, भरत तथा शारंगदेव इत्यादि से काफी हद तक दिखाई पड़ती है । संगीत रत्नाकर में गायन के गुणों की संख्यात्मक और वर्णात्मक उभय दृष्टियों से विस्तृत व्याख्या मिलती है किन्तु नारदादि ने अपेक्षाकृत अल्प व्याख्या की है, जिसका कारण दोनों का भिन्न उद्देश्य है । जहां एक ओर शारंगदेव का प्रमुख लक्ष्य संगीत चर्चा ही है वहीं दूसरी ओर नारद आदि शिक्षाकार मुख्य रूप से संगीत के ग्रन्थकार नहीं हैं प्रत्युत उन्होंने तो सांगीतिक तत्त्वों की चर्चा सामान्य दृष्टिकोण से ही की है । शिक्षाग्रन्थों में पाठ तथा गायन दोनों के गुणदोष वर्णित हैं, जबकि रत्नाकर आदि संगीत के ग्रन्थों में केवल गायन के ही गुण दोष बताने का प्रयास है और जैसा कि इस अध्याय के आरम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है कि पाठ और गायन के मध्य कोई तात्त्विक भेद नहीं है अतः उनका परस्पर सम्बन्ध स्वाभाविक है । इसलिये गायन के गुण-दोषों की चर्चा करते समय पाठ के भी गुण-दोषों का संगीत रत्नाकर मेंगायन के गुण दोषों के अन्तर्गत शामिल हो जाना आश्चर्य का विषय नहीं है । पुनश्च रत्नाकर के समय तक संगीत धारा जिस विकसित अवस्था को प्राप्त कर चुकी होगी वैसा विकास शिक्षाकारों के समय तक नहीं हुआ होगा । अतः रत्नाकरादि ग्रन्थों में तत्सम्बन्धी विस्तृत विवेचन अनपेक्षित नहीं है ।

दोष -

गुणों की भांति ही पाठ्य तथा गायन के दोष भी शिक्षाकारों

- -

१- ना०शि० १।३।८
२- सं०र० ।। ३।१५

ने गिनाये हैं ।

'उद्घृष्ट' को शोभाकर ने क्षुब्ध गान बताया है ।[१] भरत-भाष्यकार ने उद्घृष्ट को 'रुक्ष' बताया है । 'रुक्षावर्णमथोद्घृष्टं'[२] शारंगदेव ने 'उद्घुष्ट' नामक दोष बताया है तथा उसकी व्याख्या विसरोद्घोष कह कर की है । 'उद्घुष्टो विसरोद्घोष'।[३] विसर से तात्पर्य सम्भवत: स्वर की अनुचित तीव्रता से है । क्योंकि अधिक तीव्रता होने पर स्वर रुक्ष तथा क्षुब्ध प्रतीत होता है ।

'अव्यक्त' की व्याख्या टीकाकार ने 'अस्फुट' बताकर की है । शारंगदेव ने इसे गद्गद् ध्वनि कहा है ।[४] 'गद्गद्ध्वनि:'[५] सम्भवत: यह दोष वर्णों की उचित अभिव्यक्ति न होने से सम्बद्ध है । जब किसी का कण्ठ गद्गद् हो जाता है, जिसे आम भाषा में गलाभर आना कहते हैं, तो उच्चारण अस्पष्ट हो जाता है । अत: गायन के लिये इसे दोष मानना सर्वदा उचित है । टीकाकार ने 'अस्फुट' के द्वारा इसी तथ्य का संकेत किया है ।

'अनुनासिक', जैसा कि इसके नाम से ही संकेत होता है । नासिकास्वर प्रधान गायन है ।
टीकाकार ने भी - 'नासिकास्थान प्राधान्येन गानम्[६]' कहकर इसी तथ्य को प्रकट किया है । नान्यदेव तथा शारंगदेव ने भी नाक से गाने को दोष माना है ।[७] आजकल भी नाक से गाना दोष माना जाता है। यह एक रोचक प्रसंग है कि बिना नासिका

१- ना०शि० १।३।११
२- भ०भा० भाग१ १।६३
३- सं०र०भाग-II ३।२८
४- ना०शि० टीका १।३।११
५- सं०र०भाग-२ ३।३५
६- ना०शि० टीका १।३।११
७- सं०र० भाग२ ३।३८

- पदाध्याय -

की सहायता के कोई भी गीत सम्यक् रूप से गाया ही नहीं जा सकता क्योंकि प्रथमत: तो अनेक वर्ण नासिका सहयोग से ही उच्चरित होते हैं और दूसरी बात यह कि अधिक तारता के स्वर स्वभावत: ही अनुनासिक हो जाते हैं। यदि उन्हें विशुद्ध कण्ठावारित करने का प्रयास किया जाय तो या तो वांछनीय तारता प्राप्त नहीं होगी अथवा बेसुरापन गायन में आ जायगा। अत: अनुनासिक दोष मानने का कारण शायद नाक के स्वर की प्रधानता को वर्जित करना है, न कि उसका निषेध करना।

'काकस्वर' कण्ठ निष्पीडन पूर्वक गान को बताया गया है।[1] शार्ंगदेव ने काग के समान क्रूर ध्वनि को 'काकी' कहा है। 'काक-क्रूररव: काकी'[2] भरतभाष्यकार ने 'अतार को काकस्वर बताया है।[3] भरत ने रुक्ष ध्वनि को काकी कहा है।[4] संगीत रत्नावली में भी कौए जैसे स्वर से गाने वाले को 'काकी' कहा गया है।[5] आदिकाल से गायन की उपमा कोयल की बोली से दी जाती रही है, अत: कौए की बोली को दोष मानना इसी मान्यता का प्रतिफल है। वस्तुत: यह दोष गायक का न हो कर प्रकृति का है। क्योंकि सुकण्ठ (अच्छी आवाज) अथवा कुकण्ठ (खराब आवाज) होना प्रकृति की देन है। उचित अभ्यास व मार्गदर्शन के द्वारा आवाज को माँजा जा सकता है किन्तु सुरीलापन (स्वरमाधुर्य) मनुष्य के वश की बात नहीं है, ऐसा माना गया है। कोयल और कागा का भेद इसी सुरीलेपन द्वारा किया जाता रहा है।

'जान परत है काक पिक ऋतु बसंत के माहि'॥

१- ना०शा० टीका १/३/११
२- सं०र० ३।३१
३- भ०भा० १।६४
४- ना०शा० ३३।१६
५- सं०रत्नावली पृ०४८

- पदाध्याय -

'शिर स्गित' दोष अत्यन्त उच्च तारता के स्वरों से सम्बद्ध बताया गया है।

' अत्युच्चैरपरिपूर्ण गानं शिरस्गितं ' [१]

याज्ञवल्क्य शिक्षा में इस दोष को ' मूर्ध्निगत ' कहा गया है।[२] नान्यदेव ने इस दोष के अन्तर्गत मन्द्रहीनता बतायी है।[३] रत्नावलीकार ने इसे 'शिरागत' कहकर इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि यह दोष शिरस्थित स्वरों के गायन से जन्य है।[४] तारता के स्वर का उद्भव शिर से ही माना गया है। अत: तारता प्रधान गायन में जो एक प्रकार की कृत्रिमता सी आ जाती है। उसी का संकेत यहाँ प्रतीत होता है। अतितारता अपने आप में गायन या वादन की दृष्टि से कोई दोष नहीं है किन्तु यह उस दशा में दोष प्रतीत होता है, जब कि मध्य और मन्द्र स्वरों के साथ तार स्वरों का सन्तुलन न रखते हुये उनकी (मन्द्रादि) उपेक्षा कर दी जाय। भरतभाष्यकार ने मन्द्रहीन के द्वारा शायद इसी ओर ध्यानाकर्षित किया है।

निश्चित स्थान पर स्वरों का प्रयोग न होने पर स्थान विवर्जित दोष होता है। टीकाकार के अनुसार - एक स्थानीय विषय के स्वर का जब अनेक स्थानों के साथ स्पर्श हो जाता है तब यह दोष होता है।

' एकस्थान विषयस्थाने कास्थाने योगात् ' [५]

सम्भवत: यह दोष गायन की अपेक्षा वादन का विशेषकर रहा होगा। सितार वीणा इत्यादि वाद्यों में अनभ्यास अथवा त्रुटयादि के कारण जब उँगली निर्धारित पर्दे (सारिका) पर न लग कर अन्यत्र पड़ जाती है तो स्थान

१- ना० शि० टीका १।३।११
२- या० शि० २८
३- भ० भा०
४- सं रत्नावली - पृ. 48
५- ना० शि० टीका १।३।११

- पदाध्याय -

विकल ध्वनि श्रवणगोचर होती है, जिसमें समीपवर्ती स्वरों का आभास भी शामिल होता है। अत: शिक्षाकार ने सम्भवत: इस दोष के द्वारा इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। नान्यदेव ने भी ` स्थान विकल [1] कहकर उपर्युक्त धारणा की पुष्टि की है। गायन में भी त्रुटिवश उचित श्रुति के स्थान पर, स्वरगत अन्य श्रुति का प्रयोग कभी-कभी हो जाता है। विशेषकर उस दशा में जबकि समीपवर्ती श्रुति अल्पमान यथा $\frac{८१}{८०}$ (पूर्सेन्ट) की हो। चूंकि इतने लघु अन्तराल को कण्ठसिद्ध करना अत्यन्त दुष्कार कार्य है, अत: स्थानच्युत हो जाना सम्भव है। किन्तु गायन की दृष्टि से तो यह दोष ही है। रत्नावलीकार ने इसी दोष को ` स्थानवर्जित [2] कहा है।

` विस्वर ` दोष को याज्ञवल्क्य ने ह्रस्व-दीर्घ विवर्जित बताया है। शिक्षाकार ने बड़े विस्तृत रूप में लिया है। शिक्षाकार का आशय विस्वर से सम्भवत: अपेक्षित स्वर के बजाय अनपेक्षित स्वर प्रयोग से है [3]। शिक्टीकाकार ने इस दोष की व्याख्या निश्चित स्वर में विराम अथवा अवरोध के रूप में की है। नान्यदेव ने विस्वर को `घर्घर ` ध्वनि से संज्ञात किया है। ` विस्वर घर्घर ` [4] शारंगदेव ने इसे सम्भवत: ` विकल ` कहा है [5]। आजकल के संगीतज्ञ जिसे बेसुरा कहते हैं। वह शायद ` विस्वर ` का ही बिगड़ा हुआ रूप है। क्योंकि दोनों में वर्णात्मक साम्य के साथ ही साथ

१- भ०भा० १।६५
२- सं०रत्नाली प०४८
३- ना०शि० टीका १/३/१९
४- भ०भा० १।६५
५- सं०र० ३।३०

व्याख्यात्मक साम्य भी है। बेसुरेपन से स्वर का निश्चित श्रुति पर न होना अभिप्रेत है । और नारद ने भी ` स्वरः स्थानाच्च्युतो के द्वारा इसी बात को बताया है । ` स्थान विवर्जित ` तथा ` विस्वर `, दोनों में बहुत कम अन्तर है। प्रथम में अन्य श्रुति का स्पर्शमात्र है जबकि द्वितीय में अन्य श्रुति का स्पष्ट प्रयोग परिलक्षित होता है ।

` विरस ` जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है । रस रहित गायन ही ` विरस ` दोष से युक्त होता है। टीकाकार ने गान मध्य में चित्तात्क्षेप के कारण ` विरस ` दोष होना बताया है ।[1] गायन में चित्त की एकाग्रता का महत्त्व निर्विवाद है। चित्त की एकाग्रता के अभाव में गायन का विरस होना स्वाभाविक ही है। भरतभाष्यकार ने रूक्षितस्वर को विरस बताया है । ` विरसं रुक्षित-स्वरम् `[2] वास्तव में मधुरता या स्निग्धता का अभाव ही ` विरस ` दोष उत्पन्न करता है। जैसा कि अरूक्ष ध्वनि से संयुक्त (गान) को स्निग्ध कहा गया है ।[3] वास्तव में देखा जाय तो ` विरस ` गायन के कई कारण हो सकते हैं । (१) कण्ठ-माधुर्य का अभाव होना । (२) शब्दों का अस्पष्ट उच्चारण (३) लय का अनियमित होना । (४) शब्दानुकूल स्वरसन्निवेश का अभाव होना (५) अवसरानुकूल गीत न होना (६) समझ के बाहर की भाषा तथा गायन शैली होना (७) वाद्य यन्त्रों का ठीक से न मिला होना - (८) परिस्थिति के प्रतिकूल वाद्ययन्त्रों का प्रयोग करना । इत्यादि अनेक दोष गायन के विरस होने के आधार हो सकते हैं ।

` विश्लिष्ट ` दोष जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है । ` अलग किया हुआ `[4] शोभाकर ने पर्वों के (अप्राप्त) व्यवधान करण को विश्लिष्ट बताया है । ` पर्वणामप्राप्तव्यवधानकरणं च विश्लिष्टं `[5]

१- ना०शि०टीका १।३।१२
२- भ०भा० १।६५
३- वही १।१०६
४- सं०श०को० - १०८६
५- ना.शि.टी. 1/3/12

- पदाध्याय -

संगीत रचना में तारतम्यता स्वर तथा ताल उभय दृष्टियों से अपेक्षित है किन्तु पद की दृष्टि से तारतम्यता अत्याधिक महत्त्वपूर्ण है । अतः पदगत् तारतम्यता का भंग हो जाना एक दोष है उसी का संकेत शिक्षाकार ने किया है, ऐसा आभासित होता है[1] । ` रत्नाकरकार ने अनवधान [2] कहकर इस दोष को बताया है , जो ` स्थाय ` आदि के नियमों से निर्मुक्त होना है ।[3]

` विषमाहत ` दोष का अर्थ विषम आहत है। यह दोष वहाँ माना गया है जहाँ प्लुत का शीघ्र तथा ह्रस्व-दीर्घ का विलम्बित प्रयोग हो । [4] यह दोष कालात्मक होने से तालसम्बन्धी है । किन्तु नान्यदेव ने इसे नासौष्ठ-दन्त-जिह्वादि ` से विषमआहत होने वाले वर्ण सम्बन्धी दोष बताया है ।[5] वर्ण चूंकि कालाश्रित ही है अतः इस दोष को स्थान तथा काल दोनों से सम्बद्ध माना जा सकता है । रत्नाकरादि में इस प्रकार का कोई दोष प्रत्यक्षतः वर्णित नहीं है किन्तु ` अव्यवस्थित ` दोष के अन्तर्गत इसका समावेश किया जा सकता है ।

` संगीत रत्नावली ` में गीत के दोषों में ` विषमाहत ` को बताया गया है । किन्तु वहाँ भी इसकी व्याख्या नहीं की गयी है ।[6]

` व्याकुल ` दोष के विषय में टीकाकार का कथन है कि वर्ण तथा स्वरादि का वैषम्यपूर्ण गायन ही ` व्याकुल ` है । [7] नान्यदेव

- -

१- ना०शि० टीका १।३।१२
२- सं०र० ३।२७-३7
३- द इण्डियन म्युजिक जनरल - में डा०प्रेमलता शर्मा का लेख
४- ना०शि०टीका १।३।१२
५- भ०भा० १।९६
६- सं०रत्नावली पृ०४८
7- ना० शि० टीका 1/3/12

- पदाध्याय -

उपर्युक्त दोषों की चर्चा के उपरान्त यह अनुमान सहज ही हो जाता है कि गायनादि के दोषों की जो चर्चा शिक्षाकारों ने की है उसका सीधा प्रभाव परवर्ती संगीत-ग्रन्थकारों पर हुआ है। अनेक दोष तो उसी रूप में रत्नाकरादि ग्रन्थों में वर्णित हुये हैं, जिस रूप में वे शिक्षा ग्रन्थों में हैं तथा कुछ अन्य दोषों को किंचित् परिवर्तन के साथ इन ग्रन्थकारों ने बताया है। संख्या की दृष्टि से शारंगदेव का तत्सम्बन्धी वर्णन अधिक विस्तृत है, किन्तु लगभग सभी मूल तत्सम्बन्धी बातों का शिक्षादि ग्रन्थों में स्पष्ट उल्लेख इस विचार की पुष्टि करने के लिये पर्याप्त जान पड़ता है कि शिक्षादि ग्रन्थों के रचनाकाल में संगीत-सरिता वेगवती हो गयी होगी।

वस्तुत: किसी भी संख्या को दोषों की सीमा नहीं माना जा सकता/उपर्युक्त दोषों को याज्ञवल्क्यशिक्षा में पाठ्य दोष बताया गया है, जबकि नारदीया शिक्षा में इसे गीतिदोष कहकर गायन से सम्बद्ध किया गया है। अत: यह स्पष्ट है कि शिक्षाकार गीति तथा पाठ्य में विशेष अन्तर नहीं मानते थे। स्वर, ताल, पद जो गीति में है, वही पाठ्य में भी है। पाठ्य में स्वरों की कम संख्या होती है, जब कि गायन में अधिक होती है। अत: जो पाठ्य दोष हैं, वे गीति दोष भी हो सकते हैं। पाणिनि ने उपांशु, दंष्ट, त्वरित, निरस्त विलम्बित, गद्गदित, प्रगीत निष्पीड़ित ग्रस्तपदाक्षर दीन इत्यादि दोष भी बताये हैं।[१] ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में दोषों का विवेचन करते हुये अत्याधिक सटीक दोष सम्बन्धी टिप्पणी की गयी है, जहाँ यह कहा गया है कि दोषों का कोई अन्त नहीं है। योग्य व्यक्ति शास्त्राध्ययन से उचित अनुचित का विवेक कर सकता है।

'न दोषाणां स्वरसंयोगजानामन्तोगम्य: संख्यया ----[२]

- -

१- पा० शि० (शि० सं०) ३५
२- ऋ० प्रा० १४।६३-६४

- पदाध्याय -

उपर्युक्त दोषों की चर्चा के उपरान्त यह अनुमान सहज ही हो जाता है कि गायनादि के दोषों की जो चर्चा शिक्षाकारों ने की है उसका सीधा प्रभाव परवर्ती संगीत-ग्रन्थकारों पर हुआ है । अनेक दोष तो उसी रूप में रत्नाकरादि ग्रन्थों में वर्णित हुये हैं , जिस रूप में वे शिक्षा ग्रन्थों में हैं तथा कुछ अन्य दोषों को किंचित् परिवर्तन के साथ इन ग्रन्थकारों ने बताया है। संख्या की दृष्टि से शारंगदेव का तत्सम्बन्धी वर्णन अधिक विस्तृत है , किन्तु लगभग सभी मूल तत्सम्बन्धी बातों का शिक्षादि ग्रन्थों में स्पष्ट उल्लेख इस विचार की पुष्टि करने के लिये पर्याप्त जान पड़ता है कि शिक्षादि ग्रन्थों के रचनाकाल में संगीत-सरिता वेगवती हो गयी होगी।

वस्तुत: किसी भी संख्या को दोषों की सीमा नहीं माना जा सकता/उपर्युक्त दोषों को याज्ञवल्क्यशिक्षा में पाठ्य दोष बताया गया है , जबकि नारदीया शिक्षा में इसे गीतिदोष कहकर गायन से सम्बद्ध किया गया है। अत: यह स्पष्ट है कि शिक्षाकार गीति तथा पाठ्य में विशेष अन्तर नहीं मानते थे । स्वर, ताल, पद जो गीति में है, वही पाठ्य में भी है। पाठ्य में स्वरों की कम संख्या होती है, जब कि गायन में अधिक होती है । अत: जो पाठ्य दोष हैं, वे गीति दोष भी हो सकते हैं । पाणिनि ने उपांशु, दंष्ट, त्वरित, निरस्त विलम्बित , गद्गदित, प्रगीत निष्पीड़ित ग्रस्तपदाक्षर दीन इत्यादि दोष भी बताये हैं ।[1] ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में दोषों का विवेचन करते हुये अत्याधिक सटीक दोष सम्बन्धी टिप्पणी की गयी है, जहाँ यह कहा गया है कि दोषों का कोई अन्त नहीं है । योग्य व्यक्ति शास्त्राध्ययन से उचित अनुचित का विवेक कर सकता है ।

' न दोषाणां स्वरसंयोगजानामन्तोगम्य: संख्यया ----[2]

- -

१- पा०शि० (शि०सं०) ३५

२- ऋप्रा० १४।६३-६४

- पदाध्याय -

गानविधि -

गान सम्बन्धी गुणदोषों के विवेचनोपरान्त शिक्षाओं में वर्णित गानविधि सम्बन्धी संकेतों पर विचार करना प्रासंगिक है । नारद के अनुसार ओंकार का पहले प्रयोग करना चाहिये ।

" प्रणवं प्राक् प्रयुंजीत ----" [1]

शोभाकर के अनुसार तत्पश्चात् ही गीति का अवधारण भलीभांति हस्तांगुलियों पर स्वरारोपण द्वारा करना चाहिये ।

" हस्तांगुलीषु स्वरारोपणं सम्यग् गीत्यवधारणार्थं-
कर्तव्यमित्याह । " [2]

याज्ञवल्क्य ने भी इसी विधान का निरूपण किया है -

" प्रणवं प्राक्प्रयुंजीत--" [3]

मल्लशर्म शिक्षानुसार प्रणव का प्रयोग आदि तथा अन्त दोनों में होना चाहिये ।

" ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।" [4]

किसी भी शुभ कार्य अनुष्ठानादि का प्रारम्भ ओंकार से करना हिन्दू - संस्कृति की पहचान है । संगीत भी इसका अपवाद नहीं है। आजकल भी संगीतज्ञों द्वारा इस प्रथा का अनुकरण एक सीमा तक देखा जा सकता है ।

१- ना०शि० १।६।४
२- टीका ,, [handwritten: ,,६१]
३- या०शि०श्लोक २२
४- मल्ल०श०शि० (शि०सं०)

- पदाध्याय -

शास्त्रीय संगीत में जो आलाप आलप्ति इत्यादि का जो आरम्भिक विधान है उससे भी इस मत की पुष्टि होती है आलाप में प्रयुक्त ` तोम ` वास्तव में ` ओम् ` का ही भ्रष्ट रूप है ।[१] यवनों ने संस्कृत भाषा का उचित ज्ञान न होने के कारण इस प्रकार की विकृतियां उत्पन्न कीं, और परवर्ती अल्पज्ञ एवं अशिक्षित संगीतज्ञों ने लकीर के फकीर की भांति उन्हीं का अनुकरण किया । आलप्ति का मूल मन्त्र जो संगीत का आरम्भक माना गया है -

` ओम् तू अनन्त हरि ` था ऐसा प्रतीत होता है ।[२]

सामगान में पांच भक्तियों (विभागों) का विधान है । ओंकार और ` हिंकार ` को मिलाने पर यह संख्या सात हो जाती है ।

` ओंकार हिंकाराभ्यां साप्तविध्यम् इति ।`[३]

पांच भक्तियाँ निम्नानुसार हैं, जिन्हें उसी प्रकार से समझा जा सकता है, जिस प्रकार ध्रुपदादि गायन विधाओं में स्थायी अन्तरा संचारी आभोग अथवा सितार, सरोदादि के वादन में जोड़, झाला , गतादि भाग होते हैं ।

प्रस्ताव -

यह भाग हिंकार (हुम्) से प्रारम्भ होता है इसके गायनकर्ता ऋत्विज् को प्रस्तोता कहा जाता है । हिंकार का गायन सभी ऋत्विज् एक साथ करते हैं ।[४] किन्तु बहिष्पवमान स्तोत्र के आरम्भ में हिंकार एक स्वतंत्र विभाग के रूप में प्रयुक्त होता है । तीन उदगाताओं द्वारा इसके गायन का विधान किया गया है ।

१- द्र० संगीत चिन्तामणि
२- द्र० इण्डियन म्यूजिक
३- त्रयी टीका त्रयी चतुष्टय , तृतीय भाग श्री सत्यव्रतसाम श्रमि भट्टाचार्य-पृ० २०५
४- सामवेद भाष्य, भूमिका पृ० ५४ सं० पं० सामश्रमी

- पदाध्याय -

तत्र हिंकारस्त्रिभिरुद्गातृभिः कर्तव्यः [1]

हिंकार सामों का रस है ।

हिंकार के सुव्यवस्थित गायन से प्रस्ताव नामक भक्ति ' रस से युक्त होकर अभ्युदय प्राप्त कर सामगान को ओज प्रदान करता है ।

' एष वै साम्नां रसो यद्धिंकारो यद्धिकृत्य
प्रस्तौति रसेनैवैता अभ्युध प्रतौति ' । [2]

प्रस्ताव के अक्षरों की संख्या सामानुसार भिन्न भिन्न होती है यथा - योक्ताश्वादि दश सामों में द्व्यक्षर, सौम, गायत्री, क्रौंचादि सप्तदश सामों में चतुरक्षर प्रस्ताव बताया गया है । [3]

२- उद्गीथ -

साम का प्रधान ऋत्विज् ' उदगाता ' इसे प्रस्तुत करता है । इसके प्रारम्भ में ' ओम् ' का गान किया जाता है। यह विभाग अन्य विभागों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। सभी सामस्तोत्रों में उद्गीथ विभाग का गान ओंकार (प्रणव) से प्रारम्भ करना आवश्यक है ।

' सर्वेषामोंकारेणोद्गीथादानम् । ' [4]

३- प्रतिहार -

अर्थानुसार यह दो विभागों को जोड़ने वाला है। इस विभाग के गायक को प्रतिहर्ता कहा जाता है। इस विभाग के कभी कभी दो उप-विभाग भी किये जाते हैं । [5]

१- सायण, पंचविंश ब्राह्मण २।१।१
२- ताण्ड्य ब्राह्मण ६।८।७
३- पुष्प सूत्र प्रपाठक १०, अजातशत्रु का भाष्य
४- लाट्यायन श्रौ०सू० ६।१०।१३
५- वै०सा०सं० पृ० १४८ उपाध्याय

- पदाध्याय -

४- उपद्रव -

इसका गायन उद्गाता (प्रधान सामगायक) करता है । ' प्रतिहार ' का ' गान ' प्रतिहर्ता के द्वारा हो जाने पर उसके दूसरे खण्ड का गान उद्गाता करता है। यही खण्ड उपद्रव होता है । [१]

५- निधन -

साम के इस अन्तिम खण्ड को प्रस्तोता, उद्गाता एवं प्रतिहर्ता तीनों ऋत्विज् एक साथ गाते हैं । साम पंचभक्तिक हो या सप्तभक्तिक हो निधन उसका अन्तिम भाग होता है ।

' निधनं नाम पंचभिः सप्तभिर्वा भागैरुपेतस्य साम्नोऽन्तिमो भागः ' [२]

निधन दो प्रकार के हैं । अन्तर्निधन, बहिर्निधन -

' निधनानि तावत् द्विविधानि अन्तर्निधनानि -----
बहिर्निधनान्यपि सूक्त एवोक्तानि ' [३]

साम के शब्दों के साथ ' इह ' , इडा ' ' अथ ' ' हीवो ' इत्यादि शब्दों के आलाप किये जाते हैं , बहिर्निधन में ऋग्दारों को छोड़कर अवान्तर अक्षरों से आलाप किये जाते हैं ।

' बहिर्निधनं ऋगक्षराद्बहिर्भूतम् निधनं यस्य तत् ' [४]

इन आलाप सूचक शब्दों का प्रयोग साम के अन्तर्गत एवं साम के अन्त में भी प्रयोग किया जाता है ।

१- भा०सं०इ० परांजपे पृ०७६
२- सायण सामवेदभाष्य पृ०५४
३- वही सायण
४- ~~आर्षेय ब्राह्मण भूमिका पृ २५~~ वही

- पदाध्याय -

' तत्र तावत् निधनानि द्विविधानि सामान्तिकानि अन्तः-
सामान्तिकानि च । '[1]

हीषु, उर्जा, ऊ, आदि का आलाप के रूप में प्रयोग कामना पूर्ति में सक्षम है, ऐसी उस समय की लौकिक मान्यता है ।[2]

साम गायन के साथ वीणावादन भी किया जाता था, इस बात की पुष्टि मल्लिनाथ ने वैदिक उदाहरण से की है।

' ब्राह्मणौ वीणागाथिनौ गायतः ----- ब्राह्मणोऽन्यो गायेत् इति श्रुतेर्वचनाविषु गीतादेस्तदंगत्वेन परिग्रहाच्च सिद्धम् '[3]

गान के दश गुणों के अन्तर्गत रक्त, वेणु, वीणा का नाम आया है, इससे स्पष्ट है कि साम गान के साथ वेणु, वीणा का भी प्रयोग किया जाता था ।

तत्र रक्तं नाम वेणुवीणास्वराणामेकीभावे रक्तमित्युच्यते'[4]

' गीत के गुणों के अन्तर्गत ' तालुहीन ' शब्द से स्पष्ट है कि सामगान के साथ लय बनाये रखने के लिये किसी तालवाद्य का भी प्रयोग सम्भवतः किया जाता हो।

शोभाकर के अनुसार -

' वृत्ति नामानियमेन प्रवृत्तं तालुहीनम् '[5]

भ०ना०शा० में भी वीणा वंश की संगति गायक के स्वरानुकूल बतायी गयी है ।

१- उद्धृत आर्षेय ब्राह्मण भूमिका पृ०-२५ बर्नेल
२- सायण सामवेद भाष्य पृ० ५३-५५ (स० सामश्रमी)
३- सं० र० १।१।३० पृ० १७ क० टीका [illegible]
४- वैदिक एज पृ० १६५-८७ आर०सी० मजुमदार
४- ना०शि० १।३।१
५- ना०शि० भट्टशोभाकर टीका १।३।१३ टीका पृ०२३

- पदाध्याय -

'वेणुदण्डप्रवेशेन सिद्धा वंशाश्रिताः स्वराः ।
यं यं गाता स्वरं गच्छेत् तं तं वंशेन वादयेत ।
शारीरवंश वेणानामेकीभावः प्रशस्यते । १

सामगान की आरम्भ विधि तथा उसमें प्रयुक्त वाद्यों की उपर्युक्त व्याख्या के उपरान्त स्वर सम्बन्धी आरम्भनार्थ विधान भी विचारणीय है। नारद ने मन्द्र स्वर से ही सभी शाखाओं में प्रथम उपक्रम करने की चर्चा की है, जिसका अभिप्राय है कि मन्द्र स्वर ही सामगान की सभी शाखाओं में आरम्भक स्वर मान्य रहा होगा । यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि शनैः शनैः ही स्वरों की तारता बढ़ती है । इसीलिये वर्तमान-काल में भी गायक-वादक निम्न तारता के स्वरों से ही आरम्भ करके इच्छा एवं आवश्यकतानुसार बाद में तार स्वरों का प्रयोग करते हैं । सीधे तार स्वरों से आरम्भ करना न केवल सुनने में विचित्र लगता है अपितु बिना मन्द्र को लगाये तार स्वर में लगाना अत्यन्त दुष्कर है । आरम्भ करने के विषय में टीकाकार ने एक बड़े ही गूढ किन्तु महत्त्वपूर्ण तथ्य का उल्लेख किया है । उनके अनुसार पदों को वाणी में मुखरित करने के पूर्व मन में उसका आरम्भ करना चाहिये । 'उपांशु - पठित्वा '[2] वस्तुतः किसी भी प्रयोग के लिये, वह चाहे संगीत गायक हो अथवा अन्य कोई भी प्रदर्शन मानसिक तैयारी अपेक्षित है। जिस प्रकार जब तक हवाई किले नहीं बनते हैं तब तक पृथ्वी पर किलों का निर्माण भी नहीं होता ।[3] इसी प्रकार जब तक मानसिक पूर्वाभ्यास नहीं किया जाता तब तक परिपक्व प्रदर्शन भी सम्भव नहीं है । वर्तमान संगीतकारों का भी ऐसा ही अनुभव है । कबीर ने भी प्रकारान्तर से मानसिक -

- -

१- ना० शि० ~~सम्म~~ 30/10
२- ना०शि०टीका २।८।८
३- एनीबेसेन्ट की प्रसिद्ध उक्ति ।

- पदाध्याय -

अभ्यास (संकल्प) को सफलता का स्रोत इंगित किया है ।[1]

अध्ययनार्थ बैठक तथा आचरण -

संगीत विधा के अभ्यास में उचित बैठक तथा उचित आचरण की आवश्यकता सर्वविदित है। शिक्षा ग्रन्थों में अध्ययन के निमित्त तत्-सम्बन्धी निर्देश प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है जो संगीत अध्ययन के लिये भी उतने ही उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है, जितने वेदाध्ययनादि के लिये । उदाहरणार्थ घुटनों के ऊपर जुड़े हुए हाथ रखकर बैठना गुरु की अनुकृति करना इत्यादि ।[2]

बुद्धि तथा ज्ञान प्राप्ति के लिये प्रसन्न मन तथा विनम्रभाव[3] तो अपेक्षित है ही साथ ही निर्भयता भी आवश्यक है । याज्ञवल्क्य का कथन है कि जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को संकुचित कर भय रहित शान्त मन से रहता है , (उसी प्रकार अध्ययन करने वाले) बुद्धिमान मनुष्य को मन को एकाग्र करके स्वस्थ एवं शान्त मन से निर्भीकतापूर्वक वर्णों का उच्चारण करना चाहिये ।

कूर्मोऽङ्गानीव संहृत्य चेष्टां दृष्टिं दृढं मनः
स्वस्थः प्रशान्तो निर्भीतो वर्णानुच्चारयेद् बुधः ।।[4]

शिक्षाकारों ने बैठक सम्बन्धी जो नियमादि बताये हैं उनका संगीत शास्त्रियों ने आवश्यकतानुसार प्रयोग करने का निर्देश किया है तथा गायन तथा वादन की विभिन्न विधाओं में सुविधापूर्वक प्रयोगार्थ विभिन्न आसनों का वर्णन किया है ।[5]

१- मन के हारे हार है मन के जीते जीत
२- ना० शि० २।६।३
३- या० शि० श्लोक २१
४- या० शि० श्लोक २३
५- दुर्लभ ग्रन्थ संग्रह पृ० 173

- पदाध्याय -

अष्टांग योग में भी उचित बैठक (आसन) विषयक निर्देश दिये गये हैं ।[१]
उचित आसन के द्वारा शारीरिक और मानसिक उभय शक्तियाँ वृद्धि को
प्राप्त कर सकती हैं तथा चित्त की शान्ति और एकाग्रता भी बैठक (आसन)
से सम्बद्ध है। संगीताभ्यासी को इन सभी की अपेक्षा और आवश्यकता है
अत: शिक्षा ग्रन्थों का तत्सम्बन्धी विवेचन सभी विद्यार्थियों के लिये द्रष्टव्य
है ।

बैठक की भांति ही आचरण सम्बन्धी निर्देश भी महत्त्वपूर्ण है।
विद्यार्थियों के लिये प्रात:काल जल्दी उठकर विद्याभ्यास का -
निर्देश किया है ।

" उषस्युत्थानमिष्यते "[२]

शोभाकार ने भी रात्रि शेष रहने पर ही विद्या के निमित्त उठने का समर्थन
किया है।[३] विद्यार्थी के लिये श्वानवत् निद्रा का उपदेश तो प्रसिद्ध है किन्तु
नारद ने तो उससे भी अधिक महत्त्व की बात की है उनके अनुसार विद्यार्थियों
के नेत्रों में निद्रा अधिक नहीं होती ।

" नहि विद्यार्थिनां निद्रा चिरं नेत्रेषु तिष्ठति "[४]

संगीतार्थी के लिये भी प्रात:काल शीघ्र उठकर अभ्यास करना अधिक निद्रालु
न होना आदि बातें प्रासंगिक हैं ।[५]

प्रात:काल उठकर मौन रहते हुये,आम , पालाश, बिल्व,अपामार्ग
तथा शिरीष की दातुन से दन्तधावन करना चाहिये ।

- -

१- पातंजल योगसूत्र
२- ना०शि० २।८।१-२
३- वही टीका
४- ना०शि० २।८।२३
५- बड़े संगीतकारों की जीवनियों से उनके निद्रानिरोध सम्बन्धी अनेक
रोचक विवरण द्रष्टव्य हैं ।

- पदाध्याय -

खदिर, कदम्ब, करवीर, करंजादि सभी यशस्वी तथा शुभफल देने वाले माने गये हैं। इनसे करणों (मुखावयव स्वरयंत्र आदि) में सूक्ष्मता तथा माधुर्य उत्पन्न होता है।[1] नारद ने भी इसी प्रकार का निर्देश किया है।[2] जो अन्यान्य शिक्षा ग्रन्थों में भी उपलब्ध है। गायकादि के लिये स्वरयंत्रादि की स्वच्छता, सूक्ष्मता तथा माधुर्य की आवश्यकता सहज ही समझी जा सकती है। इसी प्रकार उचित भोजन की प्रासंगिकता भी गाने वाले के लिये - उल्लेखनीय है। खट्टे तीते भोज्य पदार्थों का परहेज, सुपाच्य एवं हल्के भोजन का ग्रहण इत्यादि उपदेशों का पालन अधिकांश संगीतज्ञ करते ही हैं। शिक्षाओं में तत्सम्बन्धी सुझाव यत्र-तत्र उपलब्ध हैं। नारद के अनुसार -

> कौष्ठेयाग्निं सदा रक्षेदश्नीयादशनं हितम् ।
> जीर्णाहार: प्रबुद्ध: सन्नुषसि ब्रह्मचिन्तयेत् ।[3]

याज्ञवल्क्य का बड़ा उपयोगी परामर्श है कि लवण युक्त त्रिफला शिष्यों को नित्य खाना चाहिये इससे उदराग्नि, मेधा तो बनी ही रहती है साथ ही स्वर वर्ण की दृष्टि से यह लाभकारी है।

> ' त्रिफलां लवणाक्तां वैभक्षयेच्छिष्यक: सदा ।
> अग्निमेधाजनन्येषा स्वरवर्णकारी तथा ।।[4]

निरन्तर अभ्यास से ही सिद्धि मिल सकती है। अत: प्रयास जारी रखना चाहिये लगातार व्यय करने से पर्वत का भी क्षय होता है और - निरन्तर संचय करने से कोष बन जाता है। बून्द बून्द से सागर की बात प्रसिद्ध ही है। लगातार अभ्यास का महत्त्व संगीत में विशेषकर उल्लेखनीय है। निरन्तर प्रयत्नशील निर्बल व्यक्ति भी सफलता प्राप्त करता है जबकि प्रयत्नरहित सबल व्यक्ति को असफलता का मुँह देखना पड़ता है।

- -

१- यांशि० ३५ से ३७
२- ना०शि० २।८/३ से ५ तक
३- ना०शि० २।८।१
४- या०शि० ३८

'अबलोऽपि यत्नवानर्थं साधयति । न तु बलवान्
रहितयत्न इति ।'[1]

विद्यार्थियों के लिये छह शत्रुओं से बचना आवश्यक है क्योंकि इनसे विद्या का विनाश होता है। माण्डूकी शिक्षा में आलस्य, मूर्खसंगति भय रोग, अत्याधिक शक्तिहीनता तथा मान (अहंकार) को विद्या का विनाशक बताया गया है ।

'आलस्यान्मूर्खसंयोगाद्भयाद्रोगनिपीड़नात् ।
अत्याशक्याच्च मानाच्च षड्भिर्विद्या विनश्यति ।।[2]

नारद के अनुसार निम्नलिखित मनुष्य विद्या प्राप्त नहीं कर सकते । क्रोधी स्तब्ध, आलसी, श्वासरोगी तथा चंचल मन वाले ।[3]

'पंचविद्यां न गृह्णन्ति चण्डाः स्तब्धाश्च ये नराः ।
आलसाः श्वासरोगाश्च येषां चाविस्तृतं मनः ।।

संगीत के विद्यार्थियों पर भी नारदादि के उपर्युक्त वचन अक्षरशः चरितार्थ होते हैं । उदाहरणार्थ चंचल मन वाला अभ्यास में प्रवृत्त नहीं हो सकता और श्वास के रोगी द्वारा तो गायन का प्रश्न ही नहीं उठता । आलसी और क्रोधी तो किसी भी कार्य में सफलता नहीं पाते एवं स्तब्ध प्राणि स्वर ताल साम्य के निर्वाह को प्रतिष्ठित ही नहीं कर सकता जो संगीत विद्या की पहली आवश्यकता है ।

विद्या प्राप्ति के उपायों में तीन विशेषकर नारद के मतानुसार उल्लेखनीय है ।[4] संगीत शिक्षा के लिये भी इनकी उतनी ही उपयोगिता एवं प्रासांगिकता है , जितनी अन्य विद्याओं के लिये है । गुरु के बिना तो संगीत शिक्षा की कल्पना भी दुष्कर है । आज तक गुरु के बिना किसी भी श्रेष्ठ संगीतकार का उल्लेख नहीं मिलता । साम्प्रतं सभी -

---

१- ना० शि० टीका
२- मा० शि० ४।१५
३- ना० शि० २।१४
४- ना० शि० २।८।१२

- पदाध्याय -

संगीतज्ञ अपनी सफलता का श्रेय गुरु को ही देते हैं , जैसा कि रविशंकर अल्लारक्खा , अमजद अली, सितारादेवी, गिरजा देवी इत्यादि अनेक चोटी के कलाकारों के प्रकाशित वक्तव्यों से प्रमाणित होता है। सम्प्रदाय अथवा घराने की परम्परा का प्रचलित होना संगीत में गुरुओं के महत्त्व को पुष्ट करता है । लोकोक्ति है कि किताबों से संगीत जैसी व्यवहारिक - विद्या प्राप्त नहीं होती । नारद ने भी इसी प्रकार का वक्तव्य दिया है ।

पुस्तकप्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसन्निधौ ।
राजते न सभामध्ये जारगर्भा इव स्त्रिय: ।।[१]

भारतीय परम्परा में गुरु का स्थान निर्विवाद है । जहां एक ओर उसे साक्षात् ब्रह्म मान कर उसका नमन किया जाता है ।[२] वहीं दूसरी ओर कबीर जैसे लोग उसे ईश्वर से भी अधिक ऊंचा स्थान देते हैं ।[३] अत: संगीत विद्या में गुरु का अत्यधिक महत्त्व स्वीकारा जाना नितान्त स्वाभाविक है। शिक्षादि ग्रन्थों से लेकर मात्र संगीतपरक ग्रन्थों तक अन्य बातों में भले ही मत वैभिन्न्य दृष्टिगोचर होता हो, किन्तु गुरु महिमा के विषय में उनमें पूर्ण मतैक्य है ।

प्रस्तुत पदाध्याय के अन्त में यह स्पष्ट कर देना उपयोगी होगा कि इस अध्याय के अन्तर्गत पद सम्बन्धी विवेचन के अतिरिक्त, शिक्षा - ग्रन्थों में उपलब्ध संगीत सम्बन्धी अन्य महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को प्रसंगानुसार अति संक्षेप में प्रकारान्तर से सम्मिलित करने का प्रयास किया गया है ,

- -

१- ना०शि० २।८।९६

२- गुरु ब्रह्मा,गुरु विष्णु, गुरुदैवो महेश्वर: ।
गुरु साक्षात परब्रह्म तस्मै श्री गुरुवेनम:।।

३- गुरु गोविंद दोऊ खड़े को लागूं पाय ।
बलिहारी गुरु आपे गोविन्द दियो बताय ।।

- पदाध्याय -

क्योंकि प्रस्तुत कार्य का यह अन्तिम अध्याय होने से उनके उल्लेख के लिये कोई अन्यत्र स्थान सम्भव नहीं था । जैसा कि इस अध्याय के आरम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है कि पद गीत के रूप में संगीत में निहित है और इस पद अथवा गीत सम्बन्धी सभी उपलब्ध सामग्री को , जो संगीत की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है , इस अध्याय में समायोजित करने का प्रयास हुआ है । किन्तु संक्षेपीकरण के कारण सभी उल्लेखों व प्रसंगों की विस्तृत चर्चा सम्भव नहीं हो सकी है। अत: स्थान-स्थान पर दिये गये सन्दर्भों को तत्सम्बन्धी ग्रन्थों से पढ़कर ही विषयों का स्पष्टीकरण सुगमता पूर्वक प्राप्त किया जा सकता है ।

-: ० :-

- संक्षिप्त निष्कर्ष -

गत अध्यायों में जो इस शोध कार्य के उद्देश्यानुसार प्रमुख विचार बिन्दु , ज्ञानालोक रूप में प्रकट हुए हैं उनका संक्षिप्त विवरण निष्कर्षात्मक दृष्टि से निम्नलिखित हैं । जैसा कि इस शोध प्रबन्ध के आरम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है, और जो इसके शीर्षक से भी उजागर होता है कि इस कार्य के अन्तर्गत प्रमुख रूप से शिक्षादि ग्रन्थों में प्रकट अथवा प्रच्छन्न रूप में उपलब्ध संगीत के तत्त्वों का शोधात्मक दृष्टि से समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया गया है ।

शिक्षा ग्रन्थों का स्थान वैदिक परम्परा के अन्तर्गत है । शिक्षायें वेदांग होने से भी महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं । अतः इन शिक्षाओं में निहित सामान्य रूप में ध्वनि शास्त्रीय और विशेष रूप में संगीत-शास्त्रीय सिद्धान्त तत्कालीन युग में प्रचलित तत्सम्बन्धी - परम्पराओं का प्रतिनिधित्व तो करते ही हैं , साथ ही इनमें प्रस्तुत सूक्ष्म संकेतों से आधुनिक काल में भी संगीत सम्बन्धी सिद्धान्तों एवं मान्यताओं को न केवल समझने में सहायता मिलती है, अपितु उनके ऐतिहासिक विकास का भी बोध होता है ।

यूं तो सभी शिक्षाओं में कुछ न कुछ संगीतोपयोगी जानकारी प्राप्त होती है किन्तु नारदीया शिक्षा विशेष रूप से प्रस्तुत प्रसंग में महत्त्वपूर्ण है , क्योंकि नारदीया शिक्षा में संगीततत्त्वों का यत्र-तत्र प्रचुर उल्लेख है जो वर्तमान की संगीत अवधारणाओं को पुष्ट करता है।

संगीत हो या पाठ्य दोनों की उत्पत्ति नाद या ध्वनि से

- संक्षिप्त निष्कर्ष -

ही होती है । अतः यही वह बीज है, जो उच्चारण रूपी डाल पर पाठ्यरूपी पुष्प तथा गीतरूपी फल उत्पन्न करता है । ध्वनि की उत्पत्ति विभिन्न स्त्रोतों से हो सकती है यथा मानव कण्ठ, वाद्ययंत्र इत्यादि । नारद ने इसीलिये दोनों को वीणा कहा है । एक शारीरी वीणा दूसरी दारवी वीणा ।[१] वैज्ञानिक रीति से नाद की तीन विशेषतायें मानी गयी हैं एक तो उसकी तीव्रता जो नाद का छोटा या बड़ापन कही जाती है। दूसरी नाद की तारता जो मन्द्र, मध्य आदि द्वारा व्याख्यायित की जाती है। तीसरा नाद का गुण, जो नादोत्पादक यन्त्र के वैशिष्ट्य की सूचक होती है। इन तीनों विशेषताओं में से नाद के कौन से स्थानों में कौन सी विशेषतायें लागू होती हैं, इनका निरुपण करके यह स्पष्ट करने का प्रयास शोधकर्त्री ने किया है कि अलग-अलग प्रसंगों में उपर्युक्त विशेषतायें प्रकारान्तर से कुछ स्थानों में ही लागू होती हैं अर्थात् सम्पूर्ण विशेषतायें सम्पूर्ण स्थानीय नहीं हैं ।

नाद का प्रादुर्भाव शिक्षाओं में अग्नि तथा वायु के संयोग से माना गया है । अन्यत्र भी यही मान्यता है। किन्तु शिक्षाओं में आहत तथा अनाहत जैसे नाद भेदों का अभाव इस निष्कर्ष को प्रेरित करता है कि वस्तुतः नाद आहत ही होती है अनाहत नहीं । क्योंकि अग्नि अथवा वायु अथवा अन्य किसी तत्त्व का संयोग आघात के बिना सम्भव नहीं है। वह आघात भले ही सूक्ष्म हो किन्तु उसके अस्तित्व को नकारना सम्भव नहीं है । अनाहत नाद की स्वीकृति तार्किक एवं व्यवहारिक दोनों दृष्टियों से नाद तत्त्व की अस्वीकृति है। अतः

१- ना० शि० १।६।१

- संक्षिप्त निष्कर्ष -

शिक्षाकारों का इस सम्बन्ध में भेदाभाव उनकी वैज्ञानिक एवं सूक्ष्म तार्किक बुद्धि का परिचायक है ।

` नाद ` ` श्वास ` तथा ` हकार ` जैसे प्रभेदों का उल्लेख तथा वर्णोत्पत्ति एवं वर्ण से पद तथा वाक्योत्पत्ति इत्यादि बातें भी शिक्षाओं में सविस्तार प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में मिलती हैं एवं हमने भी आवश्यकतानुसार उनकी यथास्थान चर्चा की है। किन्तु उनके विषय में किसी नितान्त नवीन या मौलिक तथ्य का उद्घाटन इन ग्रन्थों में जो संगीत की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो , नहीं होता। अत: नाद विषयक शिक्षाओं का दृष्टिकोण आंशिक रूपेण ही शोधोपयोगी कहा जा सकता है । फिर भी नाद की उत्पत्ति के विषय में जिन कार्य-कारण परक दार्शनिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत प्रसंग में दर्शाने की चेष्टा की गयी है वह संगीतार्थियों के लिये एक नवीन दृष्टि का सूत्रपात कहा जा सकता है ।

नाद से वर्णों की उत्पत्ति होती है,और संगीत में वर्णों का एक विशिष्ट स्थान है। गीतादि में तो वर्ण , पद, वाक्य आदि रहते ही हैं , परन्तु वाद्य संगीत की रचनाओं में भी वर्ण को ग्रहण प्रकारान्तर से होता है । ` दिर ``दारा` तिर` , धिट` जैसे बोल जो सितार तथा तबलादि वाद्यों में प्रयुक्त होते हैं, वस्तुत: संगीतात्मक वर्ण रचना प्रक्रिया को ही दर्शाते हैं।

नाद की उत्पत्ति के विषय में भिन्न-भिन्न स्थानों को चर्चा शिक्षाओं में है, जो नाद की गुणात्मकता तथा तारता दोनों को ही समझने में सहायक हैं ।संगीत में सप्तकों की व्यवस्था जो ध्वनि की तारता

- संक्षिप्त निष्कर्ष -

का सीधा परिणाम है, नादोत्पत्ति के स्थानों से ही सम्बद्ध है तथा तारता के साथ तीव्रता का भी कुछ न कुछ सम्बन्ध मानना ही पड़ता है। अत: नाद की तीनों विशेषतायें, स्थानों के आलोक में सहज ही बोधगम्य हो जाती हैं ।

भातखण्डे का यह मत सर्वथा अमान्य है कि शिक्षादि ग्रन्थों में श्रुति-स्वर विषयक कोई भी जानकारी प्राप्त नहीं होती ।[1] इसके विपरीत सत्य तो यह है कि न केवल नारदीया और माण्डूकी अपितु अन्य शिक्षा एवं प्रातिशाख्य ग्रन्थों में अत्याधिक मात्रा में श्रुति और स्वर का विवेचन मिलता है, तथा श्रुति एवं स्वर के स्थान सम्बन्धी मतों का भी संक्षिप्त किन्तु उपयोगी उल्लेख मिलता है। हां यह बात अवश्य है कि श्रुति का वैसा अर्थ इन ग्रन्थों में नहीं है , जैसा कि परवर्ती संगीत ग्रन्थों में मिलता है। नारदीया शिक्षा में तो श्रुति को स्वर में उसी प्रकार प्रछन्न रूप से उपस्थित बताया है जैसा कि दही में घृत रहता है ।[2]

श्रुति संख्या के विषय में शिक्षाओं एवं संगीत ग्रन्थों में मतैक्य नहीं जान पड़ता क्योंकि नारद ने जहां केवल पांच श्रुतियों का उल्लेख किया है वहीं संगीत के प्राय: सभी ग्रन्थों में श्रुति संख्या बाईस मिलती है । शिक्षाओं में वर्णित श्रुतियां मूलत: गुणात्मक अर्थात् स्वर सौन्दर्य अथवा रस से सम्बन्धित हैं जिन्हें संगीत ग्रन्थों में श्रुति जाति कहा गया है । सप्तक के अन्तर्गत बाईस श्रुतियों का विधान जो भरतादि ने किया है , वह शिक्षाओं में नहीं है । अत: यह अनुमान किया जा - सकता है कि ध्वनियों के परस्पर सूक्ष्म अन्तरालों को पहचानने(Identify) की क्षमता उतनी अधिक शिक्षाओं के रचनाकाल तक विकसित नहीं हुयी

- -

१- हि०सं०प०क्र०पु०भा०(भाग ५ पृ० १७)

२- ना० शि० १।६।१७

- संक्षिप्त निष्कर्ष -

होगी जो परवर्तीकाल में विकसित हुयी जान पड़ती है। हेल्महोज जैसे ध्वनिशास्त्रियों का भी यही मत है कि शनै: शनै: ही सूक्ष्म ध्वन्यान्तरों को एक दूसरे से स्पष्ट रूपेण पृथक् कर पाने की शक्ति या समझ संगीतज्ञों को होती है।

श्रुति और स्वर के सम्बन्ध के बारे में कुछ सूक्ष्म संकेत प्राप्त होते हुये भी शिक्षाओं में उस प्रकार का विवेचन नहीं मिलता जैसा कि संगीत की दृष्टि से अपेक्षित है। यद्यपि नारद ने कहा है कि जिस प्रकार आकाश में पक्षियों का तथा जल में मछलियों का मार्ग उपलब्ध नहीं होता वही स्थिति स्वरगताश्रुतियों की है;[1] फिर भी यह कहा जा सकता है कि तत्सम्बन्धी जिस सूक्ष्म विवेचन की अपेक्षा संगीत ग्रन्थों से की जा सकती है, वैसा विवेचन शिक्षाओं में न मिलना निराशाजनक है। नारदीया शिक्षा के अतिरिक्त अन्य किसी भी शिक्षा में श्रुति-स्वर सम्बन्ध का उल्लेख नहीं मिलना भी असन्तोषजनक है, पर यह नहीं भूलना चाहिये कि शिक्षाओं में संगीत के तत्त्व होते हुये भी वे मात्र संगीत के ग्रन्थ नहीं हैं।

उदात्त और अनुदात्त की मध्यवर्ती श्रुति को साधारण ` बताया गया है।[2] इसी प्रकार दूर से बुलाने के लिये एक श्रुति का प्रयोग करने का विधान[3] इत्यादि ऐसे बिन्दु मिलते हैं जिससे श्रुति को एकार्थक न मानकर अनेकार्थक मानना पड़ता है। सामिक श्रुति विधान भी जो शिक्षाओं में वर्णित है, बहुत अधिक स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। परांजपे जैसे विद्वान इस विषय में जो सन्देह करते हैं वह पूर्णरूपेण निराधार नहीं है। इसकी दृष्टि से भी श्रुतियों का वर्गीकरण शिक्षाओं में नहीं है, यद्यपि दीप्तायता इत्यादि श्रुतिनाम उनमें हैं और भरत ने इन्हें श्रुतियों की -

- -

१- ना० शि० २।७।११
२- ना० शि० १।८।७
३- सिद्धान्तकौमुदी १।२।३३

- संक्षिप्त निष्कर्ष -

जातियाँ मानकर उन्हें इस से जोड़ा है परन्तु शिक्षाओं में ऐसी कोई भी स्पष्ट अवधारणा नहीं दिखाई पड़ती हाँ इतना अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि सम्भवत: भरत ने श्रुतिनामों को जो शिक्षा में आये हैं , जाति के साथ जोड़कर रसों का उनमें अन्तर्भाव दर्शाने की प्रेरणा ग्रहण की हो ।

नारदीया शिक्षा में तीन ग्रामों अर्थात् षड्ज, मध्यम तथा गान्धार ग्राम का उल्लेख तो हुआ ही है साथ ही मूर्च्छना तथा तान की चर्चा भी मिलती है। संगीत के ग्रन्थों में भी तीन ही ग्राम वर्णित हुये हैं। किन्तु मूर्च्छना और तानों के बारे में नारद तथा परवर्ती ग्रन्थकारों के मत आंशिक रूप से ही साम्य रखते हैं । नारदीया शिक्षा का तत्सम्बन्धी विवेचन प्रामाणिक नहीं जान पड़ता । डा०प्रेमलता शर्मा के मतानुसार यह अंश प्रक्षिप्त लगता है। सम्भव है कि मूल शिक्षा में कुछ और ही विवरण रहा हो और उसके उपलब्ध न होने के कारण सम्पादक ने अन्य किसी नारद के संगीत सम्बन्धी अंश को भ्रमवश शिक्षाकार नारद का समझकर रख दिया हो । एक से अधिक नारद जिनके संगीत ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं , हुये हैं अत: उपर्युक्त आशंका का बलवती होना स्वाभाविक है । नारदीया शिक्षा में भी अन्य नारद की चर्चा हुयी है १ तथा इस ग्रन्थ के पढ़ने से भी उपर्युक्त संगीत सम्बन्धी ग्राम मूर्च्छना इत्यादि का क्रम नहीं बैठता जिससे इतना तो सिद्ध हो ही जाता है कि हीं कोई त्रुटि अवश्य है ।

स्वराध्याय के अन्तर्गत स्वर की व्युत्पत्ति तथा उसके भाषात्मक स्वरूप को शिक्षादि ग्रन्थों की दृष्टि से अवलोकित करने से यह अनुमान लगानेकी सम्भावना बलवती हो जाती है कि संगीतात्मक स्वरों का स्वरूप भाषा से ही आया होगा। स्वर व्यंजनों का अनुवर्तक होने से , भाषा की दृष्टि से और रंजन का आधार होने से संगीत की दृष्टि से, दोनों में

- -

१- ना०शि० २।७।११

- संक्षिप्त निष्कर्ष -

में ही महत्त्वपूर्ण है। यह भाषा और संगीत का जहां एक ओर मिलन बिन्दु है, वहीं दूसरी ओर स्वर के माध्यम से ही इन दोनों में अन्तर किया जाता है । स्वर भाव की क्रिया ही प्रयोक्ता के मन्तव्य को स्पष्ट करने में सक्षम है । इसीलिये स्वर व्यंजन सहित अथवा व्यंजन रहित भी ' अक्षर ' कहा जाता है । इसी स्वर के स्वरूप को विभिन्न दृष्टियों से समझने का प्रयास शिक्षादि ग्रन्थों में होने से वे सांगीतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो गये हैं ।

सामिक स्वरों का अवरोही क्रम में होना, एक प्रश्नचिन्ह उपस्थित करता है , जिससे उदात्त से अनुदात्त की ओर स्वरों का विकास हुआ , ऐसा प्रतीत होता है। भरतभाष्यकार ने भी इसी निष्कर्ष की पुष्टि की है। वस्तुत: इस सम्बन्ध में गहराई से विचार करने पर उदात्त अनुदात्त तथा स्वरित जैसी त्रिविध स्वर संज्ञायें एकार्थक न होकर अनेकार्थक लगती हैं। कहीं तो उदात्त और अनुदात्त तीव्रता के परिचायक हैं और कहीं तारता के । कहीं वे श्रुति-स्वरमान (चतु: त्रि, द्वि श्रुति इत्यादि) की ओर संकेत करते हैं और कहीं वे सप्तक या स्थान (मन्द्र, मध्य , तार) के निर्धारक लगते हैं । किन्तु स्वरित को आधार स्वर मान लेने पर यह समस्या एक हद तक सुलझ जाती है जैसा कि विभिन्न प्रमाणों के आधार पर सम्बन्धित अध्याय में लेखिका ने निवेदित किया है, किन्तु यह समाधान सांगीतिक दृष्टि से है और जो मुख्य स्वाभाविक है ,क्योंकि प्रस्तुत प्रयास मुख्य रूप से तत्सम्बन्धी सांगीतिक तत्त्वों का निरूपण है ।

वैदिक स्वरों का नामकरण तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण से प्राय: सही है , किन्तु उनसे सम्बद्ध लौकिक स्वरों का नामकरण उतना तार्किक व समीचीन नहीं है जितना कि क्रुष्टादि वैदिक स्वरों का । गान्धार

- संक्षिप्त निष्कर्ष -

तथा मध्यम जैसी स्वर संज्ञायें तो तार्किक जान पड़ती हैं किन्तु षड्ज और निषाद जैसी स्वर संज्ञायें बुद्धि ग्राह्य नहीं है । व्यापक अर्थ में हम उनकी प्रासांगिकता एवं नामकरण भले ही मान लें, लेकिन सूक्ष्मता से अवलोकन करने पर उनके नाम की सार्थकता सिद्ध नहीं होती । वैदिक तथा लौकिक स्वरों में कोई तात्त्विक भेद नहीं प्रतीत होता। नाम तथा क्रमादि में भेद होने से ही उन्हें एक दूसरे से नितान्त भिन्न मान लेना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है स्वर, स्वर हैं उनका प्रयोग भिन्न-भिन्न रीति से हो सकता है लेकिन इससे उनकी सत्ता में न्यूनाधिकता आने का प्रश्न नहीं उठता । जिस प्रकार जल, जल ही रहता है, भले ही वह ताम्र पात्र मे हो अथवा स्वर्णकलश में।

स्वरों की उत्पत्ति के स्थान के विषय में पर्याप्त चर्चा शिक्षाओं में है, और पशु-पक्षियों की बोली से उनकी साम्यता दर्शाने का प्रयास किया गया है। उत्पत्ति विषयक मान्यतायें प्राय: वैज्ञानिक हैं और वर्तमान संगीतज्ञ भी इसी मत के प्राय: समर्थक हैं, किन्तु पशु-पक्षियों के साथ स्वर साम्य की बात, मात्र काल्पनिक जान पड़ती है। सम्भव है कि किसी वस्तुगत (Objective) पैमाने के अभाव में इन बोलियों को स्वरों का संकेतक माना गया हो, किन्तु वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से यह नितान्त अप्रासांगिक एवं अनुपयुक्त जान पड़ता है ।

स्वरों के देवताओं ऋषियों जातियों इत्यादि का जो उल्लेख शिक्षा तथा प्रातिशाख्यों में मिलता है वह आधुनिक काल में प्रयोगात्मक दृष्टि से निरर्थक ही माना जायगा । हाँ स्वरों की रंग विषयक अवधारणा निश्चित ही संगीत के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से लाभकारी हो सकती है ।

स्वर-सारणा की जो हस्त चालनादि विधियां शिक्षाओं में

- संक्षिप्त निष्कर्ष -

वर्णित हैं, वे आज भी यदि पूरी तरह नहीं तो आंशिक रूप से प्रासंगिक हैं तथा इनके मूल में मनोवैज्ञानिक तथ्य भी निहित हैं। आत्मकेन्द्रित होकर जब संगीतज्ञ प्रयोग में प्रवृत्त होता है, तो स्वभावत: ही उसके अंगों में गति प्रवाहित हो उठती है जो प्रयुक्त स्वरावलियों के अनुकूल ऊर्ध्व अथवा अधोगामी होती हैं। इसके अतिरिक्त स्वर सारणा द्वारा सांगीतिक स्वरों का दृश्य रूप (Visual Image) भी उपस्थित होता है, जो प्रयोक्ता और श्रोता (सामाजिक) दोनों के लिये सहायक है। शिक्षाओं में किंचित् स्वर चिन्ह यथा खड़ी रेखा, पड़ी रेखा इत्यादि प्राप्त होते हैं, जिससे स्वरांकन विधि की प्राचीनता का बोध होता है। यद्यपि यह स्वर चिन्ह पर्याप्त एवं परिष्कृत नहीं है, किन्तु उनका अल्प मात्रा में होना भी गौरव की बात माना जा सकता है।

ताल के विषय मे शिक्षाओं मे जो सामग्री प्राप्त होती है, वह ऐतिहासिक महत्त्व के साथ ही साथ संगीत की दृष्टि से भी अत्यन्त उपयोगी है। जिस प्रकार काल का साहित्यिक रूप छन्द है, उसी प्रकार काल का सांगीतिक रूप ताल है। छन्द और ताल दोनों ही कालाश्रित होने से परस्पर सम्बद्ध हैं। यद्यपि छन्दों की चर्चा तो वैदिक वाङ्मय में अन्यत्र उपलब्ध होती है, किन्तु ताल की चर्चा सांगीतिक दृष्टि से सर्वप्रथम शिक्षाओं में ही हुयी जान पड़ती है। नाट्यशास्त्र तथा उसके समकालीन ग्रन्थों में जो कालक्रम में शिक्षा ग्रन्थों के परवर्ती हैं, ताल - सम्बन्धी जो कुछ विवेचन मिलता है वह शिक्षाओं में उपस्थित तत्सम्बन्धी संकेतों की ही व्याख्या मात्र कही जा सकती है। उदाहरण के लिये त्रिविधालय तथा स्रोतोगता गोपुच्छादि यतियां जो भरतादि द्वारा उल्लिखित हुयी हैं, वस्तुत: शिक्षाओं में वर्णित विवृत्तियाँ ही हैं।

- संक्षिप्त निष्कर्ष -

ताल की इकाई मात्रा को वस्तुगत रूप प्रदान करने का प्रयास भी शिक्षाओं में देखा जा सकता है, जहां मात्राओं के काल मान को समझाने के लिये पशु पक्षियों की बोलियों एवं अपलक झपकने की क्रिया (निमेष) आदि भौतिक घटनाओं के उदाहरण लिये गये हैं। इसके अतिरिक्त मात्रा के और छोटे रूप अर्थात् १।२, १।४ मात्राओं के लिये अणु इत्यादि संज्ञाओं का व्यवहार भी वहां मिलता है भले ही वर्तमान संगीत में ऐसी संज्ञाओं का नितान्त अभाव है। आजकल के संगीतकार यद्यपि मात्रा से भी छोटी काल इकाई के लिये पृथक् संज्ञाओं की आवश्यकता अनुभव करते हैं परन्तु उसके लिये कोई सर्वमान्य प्रचलित शब्द उपलब्ध नहीं है अतः शिक्षादि ग्रन्थों में इस निमित्त प्रयुक्त संज्ञाओं को प्रचलित करने की आवश्यकता है।

ताल के प्रसंग में ही जिन वृत्तियों (लयों) का उल्लेख शिक्षाओं में हुआ है; उनकी उपयुक्तता भी वहां दर्शायी गयी है तथा उनमें निहित दोषों का भी संकेत है। उदाहरण के लिये द्रुता वृत्ति में अक्षरों का अस्पष्ट होना, तथा अध्यापन के लिये विलम्बित वृत्ति का औचित्य कुछ ऐसी सर्वमान्य एवं सर्वकालिक महत्त्वपूर्ण बातें हैं, जिनकी उपेक्षा चाहते हुये भी नहीं की जा सकती। यही नहीं प्रातः, दोपहर तथा सन्ध्या समय के लिये अलग-अलग वृत्तियों की संस्तुति जो शिक्षाओं में की गयी है [१] मानव मनोविज्ञान के नितान्त अनुकूल जान पड़ती है।

वर्तमान संगीत में प्रयुक्त विभिन्न ताल यथा झपताल, त्रिताल, कहरवा रूपक इत्यादि तालों की चर्चा जो वस्तुतः मात्राचक्र (cycle) ही हैं,।

- -

१- पा० शि०

- संक्षिप्त निष्कर्ष -

शिक्षाओं में नहीं है लेकिन वहां विभिन्न मात्राओं के छन्दों का समावेश किया गया है जिससे इस अनुमान को पुष्टि होती है कि तत्कालीन संगीत प्रयोग में गीत के निर्धारक छन्द ही रहे होंगे। यह तो सर्वमान्य है ही कि अधुना प्रचलित भिन्न-भिन्न ताल मात्राओं की दृष्टि से समानान्तर चलने वाले भिन्न-भिन्न छन्दों के ही संगीतात्मक प्रतिरूप हैं। उदाहरणार्थ उत्तरभारतीय संगीत का रूपक ताल हरिगीतिका छन्द का तथा १६ मात्राओं वाला त्रिताल एवं चतुर्मात्रा अथवा अष्ट मात्रा वाला कहरवा ताल चौपाई अथवा संस्कृत के अनुष्टप छन्द का संगीत रूप है।[१]

ताल अथवा मात्राओं के लिये हृस्व, दीर्घ तथा प्लुत जैसी संज्ञाओं का उल्लेख तो शिक्षाओं में है किन्तु उनके निमित्त किसी पृथक् काललिपि अथवा चिन्हावली वहां नहीं मिलती यद्यपि प्लुतादि की मात्राओं का निर्धारण करने के लिये छन्द के प्रसंग में कुछ संकेत बीज दिये गये हैं यथा हृस्व जो लघु होते हुये भी संयुक्त होने की दशा में गुरु बन जाता है इत्यादि[२]। कर्णाटिक पद्धति में भी कुछ इसी प्रकार की बात प्रकारान्तर से देखी जा सकती है, जहां 'लघु' की मात्रायें निश्चितनहोकर ताल की जाति पर निर्भर रहती है। कुल मिलाकर शिक्षाओं में स्वर पक्ष की भांति ही संगीत के पक्ष को भी सूक्ष्म रीति से समझने समझाने का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। भले ही कालान्तर के कारण अब लय तथा वृत्तियों जैसी काल विषयक संज्ञायें भिन्न अर्थों की सूचक बन गयी हैं।

पद से सम्बन्धित अनेक आवश्यक बिंदुओं का उल्लेख अपेक्षाकृत अधिक विस्तार के साथ शिक्षाओं के प्राप्य हैं जिसके दो प्रमुख कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि पद के अभाव में पाठ्य सम्भव नहीं है और पाठ्य का ही विस्तृत विवेचन शिक्षाओं का प्रमुख ध्येय जान पड़ता है और

१- द्र-डा०प्रेमलता शर्मा द्वारा 23-8-83 को ए. आइ. आर. लखनऊ से प्रसारित वार्ता
२- ना० शि० २।६।१० तथा २।७।२

- संक्षिप्त निष्कर्ष -

दूसरी बात यह है कि वेदों में वर्णित ऋचादि पद रूप ही हैं। अत: उनका भलिभांति गायन, उचित , पद-ज्ञान के बिना सम्भव नहीं हो सकता। चूंकि संगीत में भी पद का महत्त्वपूर्ण स्थान है, अत: शिक्षाओं के तत्सम्बन्धी विवेचन को न केवल संगीतोपयोगी माना जा सकता है, अपितु परवर्ती संगीतकारों ने उन निर्देशों को न्यूनाधिक रूप में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। सामान्यत: अधिकांश शिक्षा ग्रन्थों में तथा विशेषकर नारदीया शिक्षा के पद के पाठ्य अथवा गायन से सम्बन्धित जिन गुणों तथा दोषों का विवरण दिया गया है, लगभग वैसा ही भरत ने नाट्य-शास्त्र में तथा शारंगदेव ने संगीतरत्नाकर में दिया है । नाम का परिवर्तन भले ही तत्सम्बन्धी गुण-दोषों में हुआ है, जिसका कारण सम्भवत: इन ग्रन्थों के रचनाकालों में पर्याप्त दूरी का होना माना जा सकता है किन्तु जहां तक शिक्षा में वर्णित गुण-दोषों की व्याख्या का प्रश्न है वे प्राय: उक्त ग्रन्थों में प्राय: समान ही है ।

पाठ्य की अगली सीढ़ी गायन मानी जा सकती है क्योंकि जिस प्रकार स्वराधिक्य के कारण वार्तालाप पाठ्य का रूप लेता है उसी प्रकार पाठ्य गायन का रूप ग्रहण करता है । यहां स्वर का अभिप्राय तारता वैभिन्न से है, जो संगीत का आधार है। अत: वार्तालाप के गुण-दोष पाठ्य में और पाठ्य के गायन में स्वत: ही उपस्थित हो जाते हैं । किन्तु पद से सम्बन्धित गुण दोष ही प्रस्तुत प्रसंग में समझने चाहिये । स्वर तथा ताल से सम्बन्धित गुण दोषों पर उपयुक्त निष्कर्ष अनिवार्यत: लागू नहीं होगा । जहां तक शारीरिक एवं मानसिक गुण-दोषों का सम्बन्ध है वे पाठ्य तथा गायन दोनों में प्राय: समान रूप से लागू होते हैं ।

- संक्षिप्त निष्कर्ष -

शिक्षाओं में वर्णित पदोच्चार तथा गायन विधि का भी महत्त्व कम नहीं कहा जा सकता क्योंकि पद संगीत का भी, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आवश्यक अंग होने से उसके उच्चारण के सभी नियम संगीत की दृष्टि से नितान्त प्रासंगिक माने जा सकते हैं उदाहरणार्थ इस सम्बन्ध में व्याघ्री इत्यादि की उपमा न केवल अत्यन्त सटीक है वरन् आजकल के, अपेक्षाकृत अल्पज्ञ संगीतकार भी इस प्रकार की उपमायें अपने शिक्षार्थियों को देते हुये पाये जाते हैं ।

साम गान की भक्तियों (विभाग) के द्वारा संगीत की गायन शैलियों यथा ख्याल-ध्रुपद के भागों जिन्हें स्थायी-अन्तरा इत्यादि की संज्ञायें दी जाती हैं, को समझा जा सकता है । तथा उनके आरम्भ एवं अन्त में प्रयुक्त ओंकार का उल्लेख[1] संगीतालाप में, उसके समानान्तर तोम् तननन इत्यादि को समझने में सहायक है ।

अध्ययन विधि तथा आचरण सम्बन्धी निर्देश, जो शिक्षाओं में उल्लिखित हैं, सामान्यत: किसी भी अनुशासन के शिक्षार्थियों के लिये प्रासंगिक एवं उपयोगी माने जा सकते हैं क्योंकि इनके द्वारा विद्यार्थी के व्यक्तित्व के विकास एवं चरित्र के निर्माण की सम्भावनायें बढ़ सकती हैं । अत: संगीतार्थियों के लिये भी उनकी उपादेयता निर्विवाद है । किन्तु (क) पात्रता का विचार (ख) गुरु सेवा (ग) पुष्कलधन (घ) विद्या अर्थात् विद्या द्वारा विद्या अर्थात् प्रतिभा एवं कुशलता इत्यादि ऐसी अकाट्य बातें हैं जिनसे ऐसा प्रतीत होता है कि, शिक्षाओं में वर्णित ये निर्देश विशेषकर संगीत के शिक्षार्थियों को दृष्टि में रखते हुये ही दिये गये हैं ।

1 — ना. शि. 1/6/4 तथा म. शि. 15/5-6

- संक्षिप्त निष्कर्ष -

इस प्रकार शिक्षाओं में वर्णित संगीत तत्वों का यह शोधकार्य तथा तत्सम्बन्धी संक्षिप्त निष्कर्ष का यह लघु प्रयास सम्पन्न होता है। आजकल के इस गवेषणा प्रधान युग में, जहां नित नये शोधों द्वारा ज्ञान भण्डार में निरन्तर वृद्धि हो रही है और नये-नये आयाम उद्घाटित हो रहे हैं, वहीं शिक्षाओं का संगीत की दृष्टि से किया गया यह अध्ययन भविष्य के अनुसन्धानकर्ताओं को प्रेरित कर सकेगा ऐसी आशा है और संगीत शास्त्रियों को इसके द्वारा यदि पूर्णरूपेण नहीं तो कम से कम आंशिक रूप से यह ज्ञान प्राप्त करने में तो सहायता अवश्य ही मिलनी चाहिये कि प्रचलित संगीत के तत्वों का बीज वैदिक वाङ्मय में कहां कैसे तथा किस रूप में विद्यमान रहा है। शिक्षाओं का वेदाध्ययन में विशेष महत्त्व सर्वविदित है और वेदों में सामवेद का महत्त्व संगीत की दृष्टि से निर्विवाद है।

वेदेषु सामवेदस्य महत्त्वं सर्वविदितमेव ।
वेदोऽयं संगीत मात्रस्य बीजत्वेन वर्तते [१]

अतः शिक्षाओं में इंगित संगीत तत्त्व वस्तुतः संगीत की वेदों से ही प्रवाहित होने वाली अविरल धारा को प्रमाणित करते हैं जो आज भी वेगवती है एवं भविष्य में रहेगी ।

संगीत मनुष्य के मनोरंजन का साधन मात्र नहीं है और न वह केवल भक्ति उपासना का साधन है। संगीत तो प्राणिमात्र का जीवन ही है, जिसे वह जन्म से लेकर मृत्यु तक निरन्तर जीता है। तकनीक अर्थों में संगीत की व्याख्या भले ही भिन्न हो किन्तु संवेग एवं भावों के स्तर पर संगीत जीवन मय एवं जीवन संगीतमय है ।

- -

१- 'द्वादशार्चिकः' की प्रस्तावना

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१- अष्टाध्यायीशुक्लयजुर्वेदयोर्मतविमर्शः - शोध प्रबन्ध
विजयपालसिंह १९७२
आगम संख्या ८६३७४
संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी

२- आथर्वण प्रातिशाख्य ग्र०नं० २१३४ ह० लि०

३- आपिशली शिक्षा

४- आरण्य शिक्षा

५- आपस्तम्बपरिभाषा सूत्र मैसूर, १८९३

६- आर्षेय ब्राह्मण भूमिका

७- आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ म्यूजिक

८- इण्डियन म्यूजिक

९- ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्

१०- उपलेख सूत्र - शौनकाचार्यशिष्येण के चिन्म-
महामुनिना प्रोक्ताम् संवत् १९५१

११- ओमापतम्

१२- ऋक्तन्त्र डा० सूर्यकान्त, प्रकाशक मेहरचन्द लछमनदास
नाज आफसेट वर्क्स दिल्ली, सन् १९७०

१३- ऋग्वेद प्रातिशाख्य एक परिशीलन डा० वी० के० वर्मा
संस्कृत विभाग का० हि० वि० वि०
वाराणसी

१४- ऋग्यजुष

१५- ऋग्वेदीय शिक्षा संवत् १९१९ ह० लि०

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१६- ऋग्वेद

१७- ऋग्वेदभाष्य भूमिका - सायण व्याख्याकार श्री जगन्नाथ पाठक १६६८ चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी-१

१८- ऋग्वेद प्रातिशाख्य डा० वी० के० वर्मा, का० हि० वि० वि० १६७०

१६- कल्याण - अप्रैल १६८५ (पत्रिका)

२०- कातीय प्रातिशाख्य ग्र० नं० २१२५ (ह० लि०) सं० सं० वि० वि० ग्रन्थालय, वाराणसी

२१- कात्यायन प्रातिशाख्य ह० लि०

२२- काव्य और संगीत में छन्द - लेख डा० सुभद्रा चौधरी, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़

२३- क्रिटिकल सर्वे आफ इण्डियन फिलासफी

२४- कौहलीय शिक्षा

२५- कौत्सव्याकरणम् ग्र० नं० ४५५०४ ह० लि० सं० स० वि० वि० ग्रन्थालय वाराणसी

२६- गायनशास्त्र ग्र० नं० ४५५०४ ह० लि० सं० स० वि वि० ग्रन्थालय वाराणसी

२७- गोपथ ब्राह्मण

२८- चतुरध्यायी

२६- छान्दोगव्याकरण

३०- छान्दोग्यव्याकरण - ग्र० नं० २०८७ ह० लि० सं० स० वि० वि०

३१- तैत्तिरीय प्रातिशाख्य - पं० वि० वेंकटरामशर्मणा विद्याभूषणेन संशोधितम् मद्रास विश्वविद्यालय १६३०

सन्दर्भ--ग्रन्थ सूची

३२- ताण्ड्यमहाब्राह्मण

३३- ताण्ड्यमहाब्राह्मण

३४- तैत्तिरीय उपनिषद् ग्रन्थ नं० ६५०७ ह० लि०

३५- दि म्यूजिक आफ इण्डिया - बन्दोपाध्याय, डी०बी० तारपोरवाला सन्स एण्ड कं० २१० हार्नबाय रोड बोम्बे

३६- दत्तिलम् दत्तिल, प्रकाशक - लक्ष्मीनारायण गर्ग संगीत कार्यालय हाथरस

३७- दि मोड आफ सिंगिग सामगान

३८- द्वादशार्चिकः, का० हि० वि० वि० विक्रम संवत् २०४१

३९- ध्वनि और संगीत - प्रो० ललित किशोर सिंह, भारतीय ज्ञानपीठ बी।४५-४७ कैनाट प्लेस नयी दिल्ली-११०००१ चतुर्थ संस्करण १९७७

४०- नादबिन्दुपनिषत्

४१- नाट्यशास्त्र - ४ सम्पादक रामकृष्णकवि, प्राच्य संस्थान, बड़ौदा

४२- नाट्यशास्त्र (हिन्दी) सम्पादक-बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी १९७२

४३- नारदसंहिता

४४- निरुक्त यास्क भास्कर पुस्तकालय, कनखल

४५- नारदीया शिक्षा श्री पीताम्बरापीठ-संस्कृत-परिषद् दतिया (म०प्र०)

४६- न्यू स्टैण्डर्ड एनसायक्लोपीडिया एण्ड वर्ल्ड

४७- पाणिनि शिक्षा

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

४८- पाणिनि शिक्षाया: शिक्षान्तरै: सह समीक्षा-डा० मधुकर फाटक
के १७।४ रतनफाटक,
वाराणसी

४९- प्रपंचसार

५०- पाराशरी शिक्षा

५१- प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा

५२- पतंजली महाभाष्य - निर्णय सागर संस्करण

५३- पारिशिक्षा

५४- प्रातिशाख्यसूत्रम् - श्री कात्यायन ग्र०नं० २१४८

५५- प्राचीन भारतीय वैदिक ध्वनिविज्ञान का विवेचनात्मक अध्ययन

५६- पुष्पसूत्र - बार सोमन

५७- पार्षदसूत्र

५८- पातंजल योगसूत्र

५९- बृहद्देशी - मतंग मुनि, सम्पादक बालकृष्णगर्ग, संगीत कार्यालय
हाथरस

६०- बृहद्देवता - महर्षि शौनक, सम्पादक अनुवादक रामकुमार राय
मुद्रक विद्या विलास प्रेस, वाराणसी प्रथम संस्करण १९६३

६१- भारतीय संगीत का इतिहास - डा०शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे, चौखम्बा
संस्कृत सीरीज, वाराणसी-१

६२- भारतीय संगीत का इतिहास - उमेश जोशी, प्रकाशक - रामगोपाल शर्मा
मानसरोवर प्रकाशन महल फिरोजाबाद
प्रथम संस्करण -१९५७

६३- भावरंग लहरी - बलवंतराय गुलाबराय भट्ट ` भावरंग ` १९७४ -मोतीलाल
बनारसीदास चौक, वाराणसी

६४- भरतकोष - प्रो० रामकृष्णकवि, तिरुपति संसकरण

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

६५- भारतीय दर्शन - उमेश मिश्र, हिन्दी समिति, सूचना विभाग उ०प्र०

६६- भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन - डा०अरुण कुमार सेन, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

६७- भारतीय धर्म और दर्शन- आचार्य बलदेव उपाध्याय चौखम्बा ओरियन्टालिया वाराणसी

६८- भारतीय दर्शन के मूल तत्व- आर०एन०शर्मा प्रकाशक- केदारनाथ रामनाथ मेरठ द्वितीय संस्करण

६९- भरतभाष्य- नान्यभूपाल ,सम्पादक चैतन्य पी०देसाई प्रकाशक इन्दिरा संगीत विश्वविधालय प्रथम संस्करण-१९६१

७०- मीमांसाभाष्य - शबरस्वामी

७१- माण्डूकी शिक्षा भगवद्दत्त मुद्रक- लालजीदास लाहौर सन् १९२१ई०

७२- म्यूजिक आफ हिन्दोस्तान- फाक्स स्ट्रांग्वेज

७३- मल्ल शर्म शिक्षा

७४- मृदंग मंजरी

७५- मीमांसा सूत्र - महर्षि जैमिनि

७६- मालविकाग्निमित्रम् - कालिदास ,प्रकाशक, बद्रीप्रसाद शर्मा भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़

७७- मुण्डकोपनिषद्

७८- याज्ञवल्क्यस्मृति

७९- याज्ञवल्क्य शिक्षा

८०- राग विबोध

८१- राग परिचय - हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव, संगीत सदन प्रकाशन ८८ साउथ मलाका, इलाहाबाद-१

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

८२- रामचरितमानस

८३- लाटायन श्रौतसूत्र

८४- लोमशी शिक्षा

८५- वैदिक एज - आर०सी०मजूमदार

८६- वराहोपनिषत्

८७- विष्णु पुराण

८८- वैदिक पदविज्ञानम् - शोध प्रबन्ध- विश्वनाथ वामनदेव
आगम संख्या ८६३७८ १९७२
वा०सं० वि०वि०, वाराणसी

८९- वाजसनेयी प्रातिशाख्य- कात्यायन,
वि०वेंकटरामशर्मणा सम्पादितम् मद्रपुरी विद्यालय
१९३४

९०- वैदिक स्वर मीमांसा- युधिष्ठिर मीमांसक

९१- वैदिक चान्ट

९२- वर्णरत्न प्रदीपिका शिक्षा

९३- वाक्यपदीय- भर्तृहरि

९४- विष्णुधर्मोत्तर पुराण

९५- वैदिक साहित और संस्कृति- आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान,
वाराणसी-१९७६

९६- शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य - कात्यायन। श्री जीवानन्दविद्या सागर भट्टाचार्येण
संस्कृत प्रकाशितं च द्वितीय संस्करण ई० १९९३

९७- शास्त्र और शास्त्र- वीर सावरकर क्षेत्र संस्करण

९८- शारदा तिलक

९९- शैशरीय शिक्षा-

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१००- शिक्षा संग्रह

१०१- शौनक शिक्षा - के०एन०एम० दिवाकर व्दिजेन्द्र तृप्पुणिन्तुर सन् १९६२

१०२- शौनक प्रातिशाख्य ग्र०नं० २११४ हि० लि०:

१०३- शोध प्रबन्ध- डा० सुभद्रा चौधरी संगीत शास्त्र विभाग, का० हि० वि० वि० मेंउपलब्ध हाल ही मेंप्रकाशित

१०४- शम्भु शिक्षा

१०५- संगीत चिन्तामणि- आचार्य बृहस्पति, संगीत कायलिय हाथरस व्दितीय संस्करण

१०६- संगित दर्पण- पं०दामोदर ,प्रकाशक संगीत कायलिय,हाथरस १९५० प्रथम संस्करण

१०७- संगीतसमयसार

१०८- संगीतशास्त्र- के०वासुदेवशास्त्री, हिन्दी समिति सुचना विभाग व्दितीय आवृत्ति १९६८ उत्तर प्रदेश

१०९- संगीतराज कुम्भकर्ण सम्पादक डा०प्रेमलता शर्मा, प्रकाशक हिन्दू विश्वविधालय संस्कृत पब्लिकेशन बोर्ड, वाराणसी

११०- सांख्यकारिका

१११- सिद्धान्तकौमुदी भट्टोजिदीक्षित, व्दितीय संस्करण

११२- संगीतपारिजात- अहोबल-संगीत कायलिय,हाथरस,व्दितीय संस्करण,१९५६

११३- संगीतरत्नाकर सम्पादित व्दारा पं० एस०सुब्रह्मन्य शास्त्री वसंत प्रेस अड्यार,मद्रास

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

११४- संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ- प्रकाशक रामनारायणलाल बेनीप्रसाद पंचम संस्करण, इलाहाबाद-२११००२ १९७५

११५- सेक्स एण्ड वरशिप

११६- संगीत औ संस्कृति

११७- स्वतन्त्रकलाशास्त्र- के०सी०पाण्डे

११८- स्वरमेलकलानिधि- रामामात्य-प्रकाशक प्रभुलाल गर्ग ,प्रथम संस्करण १९५० संगीत कार्यालय,हाथरस

११९- स्टडीज इन दि थ्योरी आफ इण्डियन म्यूजिक इ. क्लेमेन्ट्स 1913

१२०- स्वराष्टक शिक्षा

१२१- स्वरांकुश शिक्षा

१२२- स्वर शिक्षा- ग्रन्थ नं० २०८० ह०लि०

१२३- स्वरलक्षणम् ग्र०नं० २१०४

१२४- संगीतरत्नावली ग्र०नं० ४५५०३ ह०लि०

१२५- सामवेद भाष्य भूमिका

१२६- सायण पंचविंशब्राह्मण

१२७- सामवेदगानग्रन्थ

१२८- सामगान परिभाषा ग्र०नं० २१५६ ह०लि०

१२९- संगीत मासिक पत्रिका मार्च-१९६६

१३०- स्वर भक्ति लक्षण परिशिष्ट शिक्षा

१३१- सायण सामवेद भाष्य

१३२- हिन्दुस्तानी म्यूजिक बाइ वेरियस आथर्स - एस०एम०टैगोर १८७५

१३३- त्रिभाष्यरत्न ग्र०नं० २१३०,२१३१ ह०लि०

१३४- त्रयीटीका (त्रयीचतुष्टय) - श्री सत्यव्रतसामश्रमिभट्टाचार्येण प्रणीत: संवत् १९५३

नोट :- उपर्युक्त जिन पुस्तकों के प्रकाशनादि का उल्लेख नहीं किया गया है, वे सभी का० हि० वि० वि० वाराणसी के संगीत शास्त्र विभाग के पुस्तकालय में उपलब्ध हैं।

- संकेत सूची -

प्रा० भा० वै० ध्व० वि० वि० अ०	-	प्राचीन भारतीय वैदिक ध्वनि विज्ञान का विवेचनात्मक अध्ययन
पा० सू०	-	पार्षद सूत्र
मा० शि०	-	माण्डूकी शिक्षा
म० श० शि०	-	मल्लशर्म शिक्षा
भा० ता० शा० वि०		भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन
चतु०	-	चतुरध्यायी
छा० व्या०		छान्दोगव्याकरण
छन्दो० व्या०	-	छन्दोग्य व्याकरण
का० प्रा०	-	कातीय प्रातिशाख्य
का० प्रा०	-	कात्यायन प्रातिशाख्य
सं० श० कौ०	-	संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ
ऋ० प्रा०	-	ऋग्वेद प्रातिशाख्य
पा० शि०	-	पाणिनि शिक्षा
शु० य० प्रा०	-	शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य
सं० र०	सं	संगीतरत्नाकर
ना० शा०	-	नाट्यशास्त्र
भ० ना०	-	(भरत) नाट्यशास्त्र
बृ० दे०	-	बृहद्देशी
ना० शि०		नारदीया शिक्षा
ऋ० प्रा० एक परिशीलन-	-	ऋग्वेद प्रातिशाख्य एक परिशीलन

- 0 -

- संकेत सूची -

आ० प्रा० - आथर्वण प्रातिशाख्य

उ० सू० - उपलेख सूत्र

आ० प० सू० - आपस्तम्ब परिभाषा सूत्र

ऋ० त० - ऋकतन्त्र

ऋ० शि० - ऋग्वेदीय शिक्षा

सं० स० सा० - संगीतसमयसार

त्रि० र० - त्रिभाष्यरत्न

या० शि० - याज्ञवल्क्य शिक्षा

व० र० प० शि० - वर्ण रत्न प्रदीपिका शिक्षा

सं० चि० - संगीत चिन्तामणि

लो० शि० - लोमशी शिक्षा

श० शि० - शम्भु शिक्षा

शि० सं० - शिक्षा संग्रह

शौ० प्रा० - शौनक प्रातिशाख्य

स्व० भ० ल० प० शि० - स्वरभक्तिलक्षण परिशिष्ट शिक्षा

रा० च० मा० - रामचरितमानस

सं० रत्नावली - संगीतरत्नावली

लाटायन श्रौ० सू० - लाटायन श्रौत सूत्र

तै० प्रा० - तैत्तिरीय प्रातिशाख्य

ता० म० ब्रा० - ताण्ड्यमहाब्राह्मण

द० - दत्तिलम्

पारि० शि० पारिशिक्षा

प्रा० सूत्रम - प्रातिशाख्य सूत्रम